सूरसागर में प्रतीक योजना

आन्ध्र विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत
शोध-प्रबन्ध का संक्षिप्त संस्करण

लेखक

डॉ० वी० लक्ष्मय्या शेट्टी

बी० एस-सी, एम० ए०, पी-एच० डी०, सा०

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग

काकरपर्ति भावनारायण कॉलेज

विजयवाड़ा (आ० प्र०)

भूमिका

जी० सुन्दर रेड्डी

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष

हिन्दी विभाग, आन्ध्र विश्वविद्यालय

वाल्टेर

प्रकाशक

रिसर्च : दिल्ली

भूमिका

"सूर सागर में प्रतीक योजना" शीर्षक शोध-प्रबन्ध में सूरसागर के विविध पक्षों का सांगोपांग अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। डॉ० लक्ष्मय्या शेट्टी स्वभावतः अत्यंत अध्यवसायी एवं निरंतर साहित्य-साधना में संलग्न तपस्वी हैं। इन्होंने अपने शोध-प्रबन्ध में सूरदास के प्रतीकों का जो वर्गीकरण प्रस्तुत किया है वह सर्वथा मौलिक है। इतना ही नहीं, विभिन्न अध्यायों में समीक्षित प्रतीक योजना सभी दृष्टियों से परिपूर्ण है। इस में रचयिता अत्यंत परिश्रम के साथ प्रतीकों में निक्षिप्त गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन करने में सफल हुए हैं। अतः निस्सन्देह यह कहा जा सकता है कि सूर सागर के प्रतीकों का इतना मार्मिक विवेचन इस से पूर्व नहीं हुआ; यह भी इस शोध-प्रबन्ध की एक विशिष्टता है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि हिन्दी साहित्य संसार इसे समुचित रूप से समादृत करेगा।

वाल्टेर

20-6-1972

जी० सुन्दररेड्डी

प्राक्कथन

यह ग्रन्थ आन्ध्र विश्वविद्यालय, वाल्टेर की पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध का संशोधित तथा संक्षिप्त मुद्रित स्वरूप है।

इस ग्रन्थ का विषय "सूरसागर में प्रतीक-योजना" है। हिन्दी साहित्य में सूरदास का महत्त्व इसी बात से स्पष्ट है कि आज तक उनके साहित्य को आधार बनाकर अनेक ग्रंथ लिखे जा चुके हैं और अब भी लिखे जा रहे हैं। उनके साहित्य की दिशाओं का अनुसन्धान हो रहा है और अनुसन्धान के नये-नये क्षेत्र सामने आ रहे हैं। अब तक जो कुछ लिखा जा चुका है, उसे पूर्ण न मानकर उनके कृतित्व के पुनः मूल्यांकन के प्रयत्न भी हुए हैं।

सूर साहित्य के सभी पक्षों पर हिन्दी के अधिकारी विद्वानों द्वारा बहुत कुछ लिखा जा चुका है। समग्र रूप को लेकर हुए कार्यों में सूर साहित्य के अन्य पक्षों के उद्‌घाटन के साथ-साथ उनके प्रतीकों के संदर्भ में भी कुछ चलते हुए उल्लेख हुए हैं। वे उल्लेख भी लीलाओं, पात्रों एवं वस्तुओं तक ही सीमित रहे हैं। डॉ० मुन्शीराम शर्मा, डॉ० हरवन्शलाल शर्मा और श्री पारीख के ग्रंथों में सूर साहित्य के प्रतीक-पक्ष को भी ग्रहण किया गया है। लेकिन सूर की प्रतीकात्मकता पर समग्र रूप से विचार वहाँ नहीं हुआ है, क्योंकि वैसा करना उन्हें अभीष्ट भी नहीं था।

सूर के काव्य की पृष्ठभूमि को ध्यान में देखने पर यह तथ्य सामने आता है कि कृष्ण-कथा के लिए पौराणिक आधार, सांप्रदायिक मान्यता के अनुसार कृष्ण का लीला-गान, सम्प्रदाय में आगमन से पूर्व सूर की भक्ति-भावना, लौकिक मान्यताएं और विश्वास आदि सूर-काव्य में प्रतीक वर्णन के लिए पर्याप्त अवसर प्रदान करते है। पृष्ठभूमि की इस व्यापकता के कारण सूर-काव्य में प्रतीकों की प्रचुरता तो है ही, उनमें वैविध्य भी बहुत है। लेकिन सूर काव्य के इस पक्ष की ओर अब तक जितना ध्यान जाना चाहिए था, नहीं गया है। एक प्रकार से यह पक्ष अछूता ही रहा है।

सूर काव्य के संदर्भ में इस आवश्यकता का अनुभव करके ही प्रस्तुत प्रवन्ध में उसकी पूर्ति का लघु प्रयास किया गया है। इसमें उक्त विषय के सम्यक् विवेचन का क्रम इस प्रकार है—

प्रस्तुत ग्रंथ नौ अध्यायों में विभाजित है। प्रथम अध्याय में सूर और उनके साहित्य का परिचय है। इसके अन्तर्गत सूरकालीन परिस्थितियों का वर्णन करते हुए तत्कालीन साहित्य पर उसके प्रभाव का आकलन किया गया है। तत्पश्चात् सूर

के व्यक्तित्व का निर्धारण उसके निर्माता-तत्व के आधार पर करते हुए व्यक्तित्व की विशेषतायें बतायी गयी हैं। उनकी रचनाओं की प्रामाणिकता पर संक्षेप में विचार करके उनमें सूरसागर के महत्त्व को दिखाते हुए सूरसागर के वर्ण्य-विषय; सूर के दर्शन, भक्ति एवं कलापक्ष पर विचार किया गया है जो तत्सम्बन्धी प्रतीकों को समझने के लिए आवश्यक भी था। अध्याय के अन्त में सूर काव्य में प्रतीकात्मकता की ओर संकेत करते हुए इस दृष्टि से उसके महत्त्व को स्पष्ट किया गया है।

द्वितीय अध्याय प्रतीक-दर्शन से सम्बन्धित है। उसमें प्रतीक की परिभाषा और व्याख्या की गयी है। प्रतीक के विभिन्न क्षेत्रों—धर्म, दर्शन, मनोविज्ञान, कला एवं भाषा आदि—का उल्लेख करते हुए इनके अन्तर्गत बनाने वाले प्रतीकों के सिद्धान्त, अन्य प्रतीकों से अन्तर आदि देते हुए प्रतीकवाद के शास्त्रीय पक्ष को स्पष्ट किया गया है। सरसागर में प्रतीक-विवेचन के पूर्व प्रतीक के सैद्धान्तिक-पक्ष का ज्ञान रखना विषय को भली-भाँति समझने के लिए आवश्यक था।

तृतीय अध्याय से सूरसागर के प्रतीकों का विवेचन प्रारम्भ होता है। तृतीय अध्याय में अवतार प्रतीकों का विवेचन है। इसके अन्तर्गत अवतार का अर्थ, हेतु, कार्य-प्रणाली, कार्य देते हुए अवतारों की संख्या निर्धारित की गयी है। बाद में, अवतार की प्रतीकात्मकता की ओर संकेत करते हुए सूरसागर में वर्णित अवतारों का पौराणिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक, आध्यात्मिक आदि दृष्टियों से विवेचन करते हुए उनमें आए हुए प्रतीकों की स्थापना की गयी है। अध्याय के अन्त में अवतार प्रतीकों की विशेषतायें बतायी गयी हैं।

चतुर्थ अध्याय लीला-प्रतीक से संबंधित है। इसमें कृष्ण लीला के स्वरूप की व्याख्या करते हुए संपूर्ण लीलाओं की प्रतीकात्मकता दिखाते हुए बाद में कृष्ण की एक-एक लीला को लेकर उनकी अलग-अलग प्रतीकात्मकता बतायी गयी है। लीला-प्रतीक-विवेचन शिवत्वपरक लीलाएं और माधुर्य लीलाएं—इन दो रूपों के अन्तर्गत किया गया है। शिवत्वपरक लीलाओं में विविध राक्षसों के उद्धार की लीलाओं तथा माधुर्य लीलाओं में माखन-चोरी, गोचारण, चीर-हरण, रास-लीला, पनघट-लीला और दान-लीला का विवेचन किया गया है। प्रायः सभी लीलाओं की व्याख्या पौराणिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टियों से की गई है और इन सभी व्याख्याओं के आधार पर उनकी प्रतीकात्मकता भी दिखाई गई है। अध्याय के अंत में लीला-प्रतीकों के अध्ययन का निष्कर्ष निकाला गया है।

पंचम अध्याय लीला-परिकर-प्रतीक संबंधी है। इसमें कृष्ण-लीला से संबंधित पात्र प्रतीक, स्थान प्रतीक, नदी प्रतीक, पशु प्रतीक और वस्तु प्रतीकों का वर्णन हुआ है। पात्र प्रतीकों में कृष्ण, राधा, गोपियां, गोप, बलराम, नन्द, यशोदा, देवकी; स्थान प्रतीकों में गोकुल, वृन्दावन; नदी प्रतीकों में यमुना; पशु प्रतीकों में गायें और वस्तु

प्रतीकों में मुरली, लकुटी, कमली गृहीत हुई हैं। पात्र प्रतीकों की दृष्टि से यह अध्याय महत्त्वपूर्ण है। इसमें कृष्ण और राधा के विकास की विभिन्न स्थितियों को दिखाया गया है। इस विकास-प्रक्रिया में विभिन्न स्रोतों से आए हुए तत्त्वों को स्पष्ट करते हुए सूर के कृष्ण और राधा के स्वरूप के संपूर्ण रूप को दिग्दर्शित किया गया है। यहां यह उल्लेख करना आवश्यक है कि इस अध्याय के अन्तर्गत केवल उन्हीं पात्र, स्थान, नदियों, पशु और वस्तुओं को प्रतीक वर्णन के लिए ग्रहण किया गया है जिनकी प्रतीकात्मकता की ओर सूरसागर में स्पष्ट संकेत मिलता है। यही कारण है कि स्थान और वस्तु प्रतीक जितने हो सकते थे उतने हो नहीं सके।

षष्ठ अध्याय सांस्कृतिक प्रतीक संबंधी है। प्रारम्भ में इस कोटि के प्रतीकों के स्वरूप का स्पष्टीकरण और बाद में इन प्रतीकों का वर्गीकरण किया गया है। सूरसागर में सांस्कृतिक प्रतीक लोक विश्वास, संस्कार तथा उत्सव एवं त्योहार के रूप में मिलते हैं। लोक विश्वास संबंधी प्रतीकों में दृष्टि-दोष, निछावर करना, पानी उतारकर पीना, सयानों से हाथ दिखाना, झाड़-फूंक, जंत्र-मंत्र, शुभ-शकुन, अशकुन आदि आते हैं। संस्कार प्रतीकों के अन्तर्गत सूरसागर में वर्णित अनेक संस्कारों का इतिहास, सूरसागर में प्राप्त संस्कार का स्वरूप तथा संस्कार के विभिन्न विधि-विधानों की प्रतीकात्मकता बतायी गयी है। उत्सव एवं त्योहार प्रतीकों में दिवाली, अन्नकूटोत्सव, होली, फूलडोल, आदि का वर्णन तथा उनकी प्रतीकात्मकता पर विचार किया गया है।

सप्तम अध्याय दार्शनिक प्रतीक संबंधी है। इसके अन्तर्गत दार्शनिक प्रतीकों का स्वरूप स्पष्ट करने के बाद वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है। दार्शनिक प्रतीकों में द्योतक प्रतीक, युग्म प्रतीक तथा तांत्रिक प्रतीकों का विवेचन किया गया है।

अष्टम अध्याय काव्य-प्रतीक संबंधी है। इसके अतर्गत कवि समय, कवि प्रौढ़ोक्तियाँ, कथानक रूढ़ियाँ, लीलावतारी नाम प्रतीक, क्रिया-प्रतीक, भ्रमरगीत प्रसंग के प्रतीक तथा दृष्टिकूट प्रतीकों के अन्तर्गत आने वाले उन सब प्रतीकों का वर्णन किया गया है, जो सूरसागर में मिलते हैं।

नवम अध्याय उपसंहार का है। इसमें सूरसागर के प्रतीक संबंधी अध्ययन का मूल्यांकन करते हुए इस दृष्टि से सूरसागर का महत्त्व बताया गया है।

प्रस्तुत शोध-ग्रंथ के तृतीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ, सप्तम और अष्टम अध्याय शोध की मौलिकता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। सूरदास के प्रतीकों का वर्गीकरण मौलिक है। साथ ही इन अध्यायों में किया गया प्रतीक-विवेचन विभिन्न दृष्टियों से किये जाने के कारण अपने आप में पूर्ण और मौलिक है। सूरसागर के प्रतीकों का इतना सर्वांगपूर्ण विवेचन इससे पूर्व नहीं हुआ है, यह भी इस ग्रंथ की एक मौलिकता

है। लेकिन इसमे यथार्थ मे कितनी मौलिकता है इसका निर्णय तो विज्ञ पाठक ही करेगे।

साहित्याचार्य श्री जी सुन्दर रेड्डी (प्रोफेसर एव अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, आंध्र विश्वविद्यालय, वाल्टेर) के निर्देशन मे मैने अपना शोध-कार्य किया था। उनके अनुभव, मार्ग-निर्देशन एव पाडित्य के कारण ही यह शोध-प्रबन्ध इस रूप मे प्रस्तुत हो सका है। मै उनकी अपने प्रति इस असीम कृपा और स्नेह के लिए उनके प्रति श्रद्धा के साथ कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

अपने शोध के अध्ययन की सामग्री का चयन करने के लिए मुझे कलकत्ता, हैदराबाद, बेगलूर, तिरुपति, गुन्टूर, वाल्टेर आदि स्थानो की यात्रा कर विभिन्न पुस्तकालयो की सहायता लेनी पडी थी, उन पुस्तकालयो के अधिकारियो का मै हृदय से आभारी हूँ।

जब मै शोध मे मग्न होता गया, शोध-प्रक्रिया की अनेक समस्यायें मेरे सामने व्यावहारिक रूप मे आयी, डॉ० रामबाबू शर्मा (हिन्दी विभाग, श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरुपति) ने समय-समय पर इनका समाधान किया और उपयोगी सुझाव देते रहे। उनकी इस अपूर्व सहायता के लिए मे श्रद्धानत कृतज्ञ हूँ। इस विषय को लेकर शोध करने के लिए डॉ० चन्द्रभान रावत (रीडर, हिन्दी विभाग, श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरुपति) ने मुझे प्रेरित तथा प्रोत्साहित किया था; मै उनका अत्यन्त आभारी हूँ।

हमारे काकरपर्ति भावनारायण कॉलेज, विजयवाड़ा के मैनेजमेट के अधिकारियों के लिए बडा कृतज्ञ हूँ जिनकी अनुमति से मै कालेज मे काम करते हुए ही प्राइवेट विद्यार्थी के तोर पर अनुसन्धान कर सका हूँ। हमारे प्रिन्सपाल श्री एस० सुन्दरम् ने इस कार्य को शीघ्रातिशीघ्र समाप्त कराने मे जो सहायता की है, उसके लिए भी मै आभार प्रकट करता हूँ।

अत मे, मै अन्य विद्वानो, मित्रो एव सज्जनो को भी धन्यवाद दिये विना नही रह सकता, जिन्होने समय-समय पर मुझे अत्यन्त मूल्यवान जानकारी दी। मै प्रकाशक सस्थान द्वारा ग्रन्थ के अतिशीघ्र प्रकाशन मे सहयोग के लिए कृतज्ञ हूँ।

बी० लक्ष्मय्या शेट्टी

विषय-सूची

संकेत-विवरण-सूची

उप०भा०	—	उपनिषद् भाष्य
क्र०सं०	—	क्रम-संख्या
डॉ०	—	डॉक्टर
पं०	—	पंडित
पृ०	—	पृष्ठ
सं०	—	विक्रम संवत्
सं:	—	सम्पादक
सा०	—	सूरसागर
‡	—	स्वीकृत

1 सूर और उनका सहित्य : एक परिचय

अनुभूति की अभिव्यक्ति ही काव्य होती है। अनुभूति युग से प्रभावित होती है और उसी युगीन अनुभूति को कवि अपनी प्रतिभा के आधार पर अभिव्यक्ति द्वारा एक रूप प्रदान करता है। इस प्रकार काव्य के लिए कवि का व्यक्तित्व और युग—इन दो का सामंजस्य आधार का काम करता है। कवि के व्यक्तित्व के निर्माण में युगीन परिवेश महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है और कवि के जीवन पर पड़ने वाले युगीन प्रभावों से ही उसकी अनुभूतियों को जन्म मिलता है। अतः यह स्पष्ट है कि काव्य के निर्माण और उसके स्वरूप के सम्यक् ज्ञान के लिए युग का ज्ञान बहुत ही आवश्यक होता है। प्रत्येक कलाकार युगीन समाज में अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए सचेष्ट होता है और इस प्रक्रिया में उसे जाति, स्थिति और काल, तीनों से सहयोग मिलता है। जाति से तात्पर्य तत्कालीन समाज; स्थिति से तात्पर्य राजनैतिक, सामाजिक अवस्था; और काल से तत्कालीन जातीय विकास की विशेषता से है। अतः यह कहा जा सकता है कि किसी युग की परिस्थितियां ही उस युग के स्वरूप को स्थिर करती हैं और वे ही कवियों को नयी अनुभूतियाँ, नयी विचारधारायें और नयी भावनायें प्रदान करके काव्य को युग से सम्बन्धित कर देती हैं।

अतएव सूरदास के व्यक्तित्व-निर्माण और उनके सृजन की प्रक्रिया को समग्र रूप से समझने के लिए उस समय की राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों का अध्ययन अपेक्षित है। नीचे सूर के काल की इन परिस्थितियों का विवेचन किया जा रहा है।

1. सूरकालीन परिस्थितियाँ और साहित्य पर उनका प्रभाव

(अ) राजनैतिक परिस्थितियाँ

सूर के समय के बहुत पूर्व ही दिल्ली का शासन मुसलमानों के हाथों में आ चुका था। उन मुसलमान शासकों में अधिकांश की मुख्य प्रवृत्तियाँ तीन थीं—
1) राज्यलिप्सा, 2) धार्मिक असहिष्णुता और 3) विलासिता।

1. राज्यलिप्सा : मुस्लिम शासकों में राज्यलिप्सा अधिक थी। इसलिये उनकी सेनाये सदा युद्ध में लगी रहती थीं। फलतः देश में सर्वदा युद्ध और संघर्ष का वातावरण था। यह वतावरण जनता में घोर असंतोष का कारण बना। 'इसी असन्तोष ने समस्त जनता का ध्यान राजनीति से हटाकर धर्म की ओर और धर्म की मान्यताओं पर आधारित समाज की ओर आकृष्ट किया।'[1]

2. धार्मिक असहिष्णुता : शेरशाह और अकबर को छोड़कर बाकी मुस्लिम शासक असहिष्णु थे। वे गैर-मुस्लिम प्रजा को 'इस्लाम या मौत' में से किसी एक को स्वीकार करने को बाध्य करते थे। कुछ शासकों ने गैर-मुसलमानों पर जिजिया-कर लगाया था। इसके मूल में निर्धन लोगों का धर्म-परिवर्तन कराना ही मुख्य उद्देश्य रहा है। इससे भी वे संतुष्ट नहीं हुए। वे हिंदू संस्कृति तथा धर्म को कुचालने में लग गये। मंदिर तथा विहार ध्वस्त किये गये। मूर्तियां नष्ट की गई। नये मंदिरों का निर्माण निषिद्ध किया गया। हिन्दू धर्म-नेता समय-समय पर जीवित जलाये गये। किन्तु मुस्लिम शासकों की असहिष्णुता हिन्दुओं की धर्म-परायणता को पराजित नहीं कर सकी, अपितु उससे उसे नयी चेतना, नयी स्फूर्ति एवं नये कार्य-क्षेत्र प्राप्त हुए।

3. विलासिता : मुस्लिम शासक अधिक विलासी थे। उनका व्यक्तिगत जीवन मांस, मदिरा और नारी पर आधारित था। इसका प्रभाव समाज के साधारण लोगों पर भी पड़ा और उनका नैतिक पतन होने लगा। अतः हिन्दू-धर्म के प्रचारकों के समक्ष जनता को इस नैतिक-पतन से बचाने की समस्या उत्पन्न हुई।

(आ) धार्मिक परिस्थितियाँ

सूर के समय तक उत्तरभारत में इस्लाम खूब फैल गया था। तब हिन्दूओं की मानसिक चेतना अधिक संगठित एवं सबल होकर पराये इस्लाम धर्म से अपने धर्म को बचाने के लिए जागृत हुई। फलतः भारत का धर्म-रक्षा-आंदोलन अधिक

[1] हिन्दी साहित्य, द्वितीय खंड, सं: धीरेन्द्र वर्मा, ब्रजेश्वर वर्मा, पृ० 196

सुदृढ़ और सबल होकर नये सिरे से प्रवाहित होने लगा। इसका श्रेय दो आचार्यों को है—स्वामी रामानंद और महाप्रभु वल्लभाचार्य।[1]

स्वामी रामानंद ने रामानुजाचार्य द्वारा प्रतिपादित विष्णु की भक्ति के स्थान पर विष्णु के अवतार राम की भक्ति का उत्तरभारत में प्रचार किया। उन्होंने भक्ति का द्वार सबके लिए खोल दिया। उनके शिष्यों में कबीर जुलाहे थे, सेन नाई थे और रैदास चमार थे। 'उनकी सार्वजनिक भक्ति इस्लाम से संघर्ष लेने केलिए पर्याप्त थी और उनकी राम-भक्ति के निर्गुण और सगुण दोनों पक्षों ने सामान्य जनता की धार्मिक आस्था को सुदृढ़ कर दिया।'[2]

श्री वल्लभाचार्य विष्णुस्वामी से प्रभावित थे। वे बड़े पंडित थे। उन्होंने कई पुस्तकें लिखी हैं। उनमें वेदांत-सार पर लिखा हुआ अणुभाष्य और भागवत की सुबोधिनी टीका है। अणुभाष्य में उनके द्वारा शुद्धाद्वैतवाद की आलोचना मिलती है। सुबोधिनी टीका में भक्ति-सिद्धांतों का प्रतिपादन हुआ है।

(इ) सामाजिक परिस्थितियाँ

1. शासकीय दृष्टिकोण : शासन का धर्म इस्लाम होने के कारण उसे माननेवाले मुसलमानों को राज्य की ओर से अनेक सुविधायें मिलती थीं। उन्हें राज्य-कोष से विशेष धन दिया जाता था। शासन के समस्त उच्च पदों पर प्रायः उनकी ही नियुक्ति होती थी।

2. हिन्दुओं की दशा : 'हिन्दू भ्रष्ट होने से बचने के लिए मुसलमानों से दूर रहते थे और वे उन्हें म्लेच्छ कहकर संबोधित करते थे।'[3] मुसलमान हिन्दुओं को इस्लाम का बड़ा शत्रु समझते और उनसे घृणा करते थे। लेकिन शेरशाह तथा अकबर के समय उनकी उदारता के कारण हिन्दू, मुसलमानों के पुराने अत्याचारों को भूल कर उनसे मिलने का प्रयत्न करने लगे। हिन्दू बड़े न्यायप्रिय थे। वे बड़ी ईमानदारी तथा पवित्रता से जीवन व्यतीत करते थे।

3. कुरीतियाँ : तत्कालीन समाज में अनेक कुरीतियाँ प्रचलित थीं। कुछ परम्परागत थीं और कुछ मुसलमानों के आगमन के बाद तत्कालीन समाज में प्रविष्ट हुई थीं। वैदकाल से ही सद्-धान हिन्दुओं के सामाजिक जीवन का एक

[1] हिन्दी साहित्य : उसका उद्भव और विकास, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० 93
[2] हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड, सं० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० 193
[3] अकबरनीज इण्डिया, भाग 1, पृ० 19-20

अभिन्न अंग था। लेकिन मुसलमान-शासन-काल में शराब पीना एक आदत बन गयी थी। उस समय गुलाम रखने की प्रथा भी प्रचलित थी। हिन्दुओं में सती-प्रथा थी।

4 **स्त्रियों की दशा :** हिन्दू अपनी स्त्रियों का आदर करते थे। फिर भी कन्या के जन्म होने पर प्रसन्नता प्रकट नहीं की जाती थी। मुसलमानों की कुदृष्टि से बचने के लिए हिन्दू-स्त्रियाँ पर्दे का आश्रय लेने लगीं।

5 **समाज पर शासक-धर्म का प्रभाव :** शासक-धर्म के अत्याचारों से बचने के लिए हिन्दुओं में जाति संबंधी नियम जटिल बनाये गये : आचार-विचार के नये नियम बने : पर्दा-प्रथा और बाल-विवाह का प्रचलन हुआ। कुछ हिन्दुओं ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। वे अपने साथ अपने पूर्वजों के विचारों तथा रीति-रिवाजों को भी लेते गए। मुसलमानों की फकीरों, पीरों तथा मकबरों की पूजा में हिन्दुओं की देव-पूजा का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। अतएव 'इस बात में संदेह नहीं रह जाता कि इस्लाम ने हिन्दुत्व पर जितना प्रभाव डाला उससे कहीं अधिक परिवर्तन हिन्दुओं ने इस्लाम में कर दिया है।'[1]

(ई) आर्थिक परिस्थितियाँ

शेरशाह तथा अकबर के समय किसानों की दशा पर्याप्त अच्छी थी। राज-कोष धन से भर गया था। व्यापार एशिया के पूर्वी, पश्चिमी तथा मध्य के देशों से होता था और उसके द्वारा देश में अपार स्वर्ण-भंडार एकत्र हो गया था।

तत्कालीन परिस्थितियों का साहित्य पर प्रभाव

मुसलमानों के आगमन से धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में अस्थिरता उत्पन्न हुई, जनता के हृदय में राजनैतिक क्षेत्र से सन्यास, भाग्यवाद, कर्मवाद आदि भावनायें जड़ जमा चुकी थीं। इन परिस्थितियों में दक्षिण का भक्ति-आँदोलन उत्तर भारत में भी फैलने लगा और भक्ति-साहित्य इन्हीं परिस्थितियों की देन है।

लोक-कल्याण की कामना वाले सन्त महात्माओं ने पराजित हिन्दू जाति को नैतिक पतन और धार्मिक पराभव से बचाने के लिए उनके हृदय में भक्ति-भावना का बीज बोना आरम्भ किया। उन्होंने लोगों को ईश्वर की सर्वगुण सम्पन्न रूप की उपासना की ओर उन्मुख किया।

[1] सैनिक, दीपावली अंक, अक्टूबर 1952 ई०, 'भारतीय समाज पर मध्यकालीन तुर्की शासन का प्रभाव' नामक निबन्ध।

भक्ति-भावना में भगवान् के विविध अवतारों की कल्पना की गई, जिनके साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित किया जा सके। राम तथा कृष्ण प्रमुख अवतार हुए। उनकी लीलाओं का गान करनेवाले अनेक भक्त तैयार हुए। कृष्ण की लीलाओं का गान करनेवाले भक्तों की संख्या राम-भक्तों की संख्या से अधिक रही। कारण संभवतः कृष्णलीला-गान में ग्रहीत माधुर्य-पक्ष की प्रमुखता ही था।

कृष्ण भक्त कवियों की परम्परा का प्रारम्भ वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्गीय भक्तों और विशेषतः अष्टछाप कवियों से ही माना जाता है। अष्टछाप कवियों में सूरदास सर्वश्रेष्ठ हैं। कृष्णभक्ति में लोकपक्ष का अभाव है। अतएव सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियों के सम्बन्ध में सूर के काव्य में अधिक नहीं कहा गया। उनके काव्य का सम्बन्ध केवल धार्मिक पक्ष और भक्ति से ही था, जो कि तत्कालीन परिस्थितियों और वातावरण के अनुकूल ही था। कृष्ण के माधुर्य पक्ष और उनके प्रति प्रेम-लक्षणा-भक्ति ने हिन्दू और मुसलमान के धार्मिक-द्वेष को समाप्त करके दोनों को ही समान रूप से प्रभावित किया और हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही इसकी ओर उन्मुख हुए। कृष्ण-भक्ति-शाखा के अन्तर्गत आगे चलकर होनेवाले अनेक मुसलमान कवि इस तथ्य के साक्षी हैं।

2. सूर का व्यक्तित्व

व्यक्तित्व के वैज्ञानिक-विश्लेषण केलिए इन तीनों बातों पर ध्यान देना आवश्यक है–अ) निर्माता तत्त्व, आ) विशेषतायें और इ) महत्त्व। यहां सूरदास जी के व्यक्तित्व का अध्ययन भी इसी दृष्टि से गोस्वामी हरिराय जी कृत 'सूरदास की वार्ता' से प्राप्त सामग्री के आधार पर प्रस्तुत किया गया है।

(अ) निर्माता तत्त्व

1. वल्लभाचार्य जी से भेंट होने के पूर्व के निर्माता तत्त्व

वल्लभाचार्य जी से भेंट होने के पूर्व सूरदास जी का जो व्यक्तित्व था, उसके निर्माता-तत्त्व ये हैं–1. दरिद्रता और 2. जन्मांधता। सूरदास जी का जन्म एक निर्धन सारस्वत ब्राह्मण के यहां हुआ था। वे अन्धे थे, यद्यपि उनका जन्मांधत्व विवादास्पद है। दरिद्रता तथा अन्धत्व के कारण सूर सब ओर से तिरस्कृत तथा उपेक्षित रहे। इससे उनमें हीनता-ग्रंथि उत्पन्न हुई जो अत्यन्त जटिल तथा कटु रही होगी। इस ग्रंथि ने उन्हें घर से चले जाने केलिए बाध्य किया होगा और सूर

सीही से चार कोस पर स्थित एक गांव के पेड़ के नीचे तालाव के किनारे जाकर रहने लगे। वहां वे ज्योतिषी बनकर शकुन वताने लगे जो ठीक निकलते थे। इससे वे प्रतिष्ठित हुए और 'स्वामी' कहलाये। फलतः सूर की अपनी हीनताग्रंथि का कुछ शमन हुआ। साथ ही वे विरह के पदों में अपनी हीनताग्रस्त चेतना को भूल जाते थे। किन्तु कुछ ही दिनों में सूर ज्योतिषी की मिथ्या प्रतिष्ठा के जाल को छोड़कर निरन्तर साहित्यक-साधना केलिए ब्रज की ओर चल पड़े और गौ-घाट पर आकर स्थायी रूप से रहने लगे।

2. वल्लभाचार्य जी से भेंट : सूर के व्यक्तित्व में मोड़

गऊघाट पर वल्लभाचार्य जी के आने की सूचना पाकर सूर ने उनसे भेंट की। आचार्य जी ने पहले ही सूर के गायन की वात सुन ली थी। इसलिए उन्होंने सूर से भगवद्यशवर्णन करने के लिए कहा। सूर ने विनयभाव से गाया—

> हरि, हौं सब पतितनि कौ नायक।
> को करि सकै बरावरि मेरी, और नहीं कोउ लायक ॥

आचार्य जी को उसमें सूर का घिघियाना पसन्द नहीं आया और उन्होंने सूर को धैर्य देते हुए भगवद्लीला वर्णन करने को कहा। सूर ने पहले की ही भाँति अपने दैन्य और प्रभु के महत्त्व को लक्ष्य करते हुए गाया और पुरुषोत्तम की लीलाओं की अनभिज्ञता व्यक्त की। तब आचार्य जी ने उन्हें पुरुषोत्तम की लीलाओं का मर्म-बोध कराने का आश्वासन दिया।

आचार्य जी की बातों से आनन्दित सूर उनकी शरण में आये। आचार्य जी ने उनके कानों में अष्टाक्षर मंत्र सुनाकर उनकी समर्पण-दीक्षा पूरी की। फिर उन्होंने दशमस्कंध की अनुक्रमणिका, भागवत की स्वरचित टीका 'सुबोधिनी' और पुरुषोत्तम सहस्रनाम सुनाया। इससे सूर को हुए लाभ ये हैं—

1. सूर के हृदय में प्रेम-लक्षणा-भक्ति स्थापित हुई।
2. उन्हें सम्पूर्ण भागवत स्पष्ट हो गई।
3. उन्होंने लीला-रहस्य जान लिया।
4. वे गेय की सीमाओं से परिचित हुए।
5. उनकी पलायनवादी वृत्ति को स्थिरता मिली।

6. उनके अनिश्चित व्यक्तित्व को एक निश्चित भावदिशा मिली।
7. उन्हें अपनी हीनता ग्रस्त चेतना को गौरवमय बनाने में सहायता मिली।

3. शरणागती के पश्चात् के निर्माता तत्त्व

क. गोकुल : वल्लभाचार्य जी के प्रति शरणागत होने के बाद सूर उनके साथ गोकुल आये। वहां उन्होने श्रीकृष्ण की बाल लीलाओं के स्थल देखकर उनसे भावात्मक तादात्म्य स्थापित किया। तब उनके समक्ष आचार्यजी द्वारा बतायी गई पुरुषोत्तम की लीलायें स्फुरित हुईं और उन्होने 'सोभित कर नवनीत लिए' वाला पद गाया जो नवनीतप्रिय जी का कीर्तन तथा गोकुल की बाललीला का वर्णन है। इस प्रकार गोकुल ने सूर को बाललीला साहित्य की प्रथम प्रेरणा और स्फूर्ति प्रदान की।

ख. श्रीनाथ जी का मंदिर : सूर वल्लभाचार्य सहित गोकुल से पारसौली आए। पारसौली के गिरिराज पर श्रीनाथ जी का मंदिर था। श्रीनाथजी वल्लभ संप्रदाय के सेव्य थे। सूर नित्य श्रीनाथ जी के दर्शन करते थे। श्रीनाथ जी के दर्शन सूर के लिए भगवान् का साक्षात्कार ही था। श्रीनाथ जी धीरे-धीरे सूर के भ्रमित व्यक्तित्व के आकर्षण केन्द्र बने। उनका साक्षात्कार कर सूर जिस भावावेश में गा उठते थे, उसमें समस्त रस-कोश उमड़ पड़ता था। सूर के समस्त काव्य का स्रोत श्रीनाथ जी का मंदिर ही रहा। अतः श्रीनाथ जी का मंदिर सूर की प्रातिभ-साधना का केन्द्र माना जा सकता है।

ग. गोस्वामी विट्ठलनाथ : गोस्वामी विट्ठलनाथ वल्लभाचार्य के पुत्र थे। उनके समय तक सम्प्रदाय में माधुर्य भाव का प्रवेश हो गया था। सूर भी उनके संपर्क में आने के बाद राधा-कृष्ण की मधुर लीलाओं का गान करने लगे। इस प्रकार गोस्वामी विट्ठलनाथ जी से सूर को माधुर्य-साहित्य-रचना की प्रेरणा प्राप्त हुई।

आ) व्यक्तित्व की विशेषतायें

सूर के व्यक्तित्व की पहली विशेषता उनकी रागात्मक वृत्ति से समन्वित भक्ति-भावना है। वे श्रीनाथ जी के मन्दिर मे रहते समय कृष्ण-सखा के रूप मे सख्य भावाश्रित समाधि में लीन रहते थे। उनकी सख्य भावना इतनी घनी और अनन्य थी कि वे अपने बीच श्रीनाथ जी की भावना की उपस्थिति का अनुभव करते थे।

शेप समय में वे 'सखी भावापन्न' रहते थे। उन्होंने भावना को सजीव रखने के लिए उसका विस्तार भी कर दिया था।

सूर के व्यक्तित्व की दूसरी विशेपता है भगवान के प्रति अनन्यता से युक्त स्वाभिमान। इसीलिए वे व्यक्ति विशेप की प्रशंसा करनेवाले नहीं थे। एक वार अकवर ने सूर से भेंट की थी और उन्होंने उनसे यशोगान के लिए प्रार्थना की थी। किन्तु सूर ने गाया कि उनके हृदय में नंदनंदन के अतिरिक्त किसी दूसरे व्यक्ति को स्थान नहीं है—

नाहिन रह्यौ मन में ठौर।
नन्दनन्दन अछत कैसे आनियै उर और ?

इससे सूर की भगवान के प्रति अनन्यता और अकवर जैसे सम्राट के प्रति निर्भीकता व्यक्त होती है।

(इ) सांप्रदायिक महत्त्व

सूर का सम्प्रदाय में विशेप महत्त्व रहा है। वल्लभाचार्य जी सूर को सदा अपने पास रखते थे और संप्रदाय की निगूढ़-सी-निगूढ़ वातें भी उन्हें वताते थे। वे सूर को 'सूर सागर' कहा करते थे। उनका आशय यह था कि जैसे सागर अगाध है, वैसे सूरदास जी का हृदय अगाध है; और जैसे समुद्र में समस्त पदार्थ होते हैं, वैसे ही सूर ने जो पद गाये हैं। उनमें ज्ञान, वैराग्य, भक्ति-भेद तथा अनेक भागवत अवतार और उन सवकी लीलाओं का वर्णन है।

गोस्वामी विट्ठलनाथ सूर को 'पुष्टिमार्ग का जहाज' कहते थे। जिस प्रकार जहाज अनेक वस्तुओं से भरी रहती है, उसी प्रकार सूरदास जी के हृदय में अलौकिक वस्तु नाना प्रकार की भरी हुई थी। गोस्वामी ने सूर की मृत्यु के समय जो वात कही है, उससे भी सूर का सांप्रदायिक महत्त्व स्पप्ट होता है—"पुप्टिमार्ग कौ जहाज जात है, सो जाकों कछू लैनौ होय, सो लेउ और उहां जायकै सूरदास जी कों देखो।"

सूरदास जी श्रीनाथ जी के कीर्तन-संस्थान के पहले नियमित कीर्तनियां थे। विट्टलनाथ जी उनकी अनेक सांप्रदायिक वातों के सम्बन्ध में सलाह लेते थे। इससे भी सूरदास जी का साम्प्रदायिक महत्त्व मालूम होता है।

3. सूर की सृजन-साधना

प्रामाणिक रचनायें

वार्त्ता साहित्य में सूरदास जी की रचनाओं पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया है। केवल उनके पदों की संख्या का संकेत कहीं-कहीं मिलता है। प्रभुदयाल मीतल से संपादित गोस्वामी हरिरायजी कृत 'सूरदास की वार्त्ता' में दो स्थानों पर सूर के पदों की संख्या का संकेत मिलता है। एक जगह उनके पदों की संख्या 'सहस्रावधि'[1] बतायी गई है तो दूसरी जगह 'सवा लाख'[2]।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा तथा अन्य संस्थाओं के द्वारा कराई गई खोजों में उनकी 25 रचनायें मिली हैं जिनका अकारादि-क्रम इस प्रकार है--

1. एकादशी माहात्म्य 2. गोवर्द्धन लीला 3. दशम स्कंध भाषा 4. दानलीला 5. दृष्टिकूट के पद 6. नलदमयन्ती 7. नागलीला 8. प्राण प्यारी 9. व्याहलो 10. भँवरगीत 11. भागवत भाषा 12. मान लीला 13. राधारसकेलि कौतूहल 14. राम जन्म 15. विनय के पद 16. साहित्य लहरी 17. सूर पचीसी 18. सूर रामायण 19. सूर शतक 20. सूर सागर 21. सूरसागर सार 22. सूर साठी 23. सूर सारावली 24. सेवाफल और 25. हरिवंश की टीका।

डॉ० दीनदयाल गुप्त इनमें से एकादशी माहात्म्य, नल दमयन्ती, रामजन्म और हरिवंश की टीका को अप्रामाणिक मानते हैं।[3] गोवर्द्धन लीला, दशमस्कंध भाषा, दानलीला, दृष्टिकूट पद, नागलीला, प्राणप्यारी, व्याहलो, भँवरगीत, भागवत भाषा, मानलीला, राधा रसकेलि कौतूहल, सूर रामायण, सूर शतक और सूर सागर सार तो सूर सागर के ही अंश संस्करण हैं। विनय के पद, सूर पचीसी और सूर साठी में तो स्फुट पद हैं। अब रह जाती हैं—साहित्यलहरी, सूरसागर और सूर सारावली। ये तीनों सूरदास की प्रमुख रचनाएँ मानी जाती है। सूर सारावली तथा साहित्य लहरी की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में विभिन्न मत है, उन पर विचार करना हमारे अध्ययन के बाहर का विषय है। सूर की सृजन-साधना का मुख्य रत्न सूरसागर ही है। अतः यहां सूर की साहित्य-साधना सम्बन्धी अध्ययन को सूरसागर तक ही सीमित रखा गया है।

[1] सूरदास की वार्त्ता, स॰ प्रभुदयाल मीतल, प्रसंग 3, पृ० 27
[2] वही, प्रसग 10, पृ० 54
[3]. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, प्रथम भाग, पृ० 263

सूर सागर का चयन

सूरसागर सूरदास की सर्वमान्य प्रामाणिक रचना है। इसकी अनेक हस्त-लिखित प्रतियां मिलती है। सूरसागर की मुद्रित प्रतियों के दो सस्करण—नवल किशोर प्रेस, लखनऊ और वेंकटेश्वर प्रेस, वम्बई के मिलते है। वम्बई वाले संस्करण के आधार पर डॉ. वेनी प्रसाद, डॉ. धीरेन्द्र वर्मा तथा डॉ. रामकुमार वर्मा ने संक्षिप्त संस्करण निकाले है। श्री वियोगी हरि द्वारा सम्पादित एक संस्करण हिन्दी साहित्य सम्मेलन से प्रकाशित है। नागरी प्रचारणी सभा, काशी ने पंडित नन्ददुलारे वाजपेयी द्वारा सम्पादित 'सूरसागर' को दो भागों में प्रकाशित किया।

प्रस्तुत अध्ययन के लिए नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'सूरसागर' को ही आधार बनाया गया है। इससे पूर्व प्रकाशित 'सूरसागर' अधिक वैज्ञानिक रूप से सम्पादित नही है। इस अवस्था में नागरी प्रचारिणी सभा के संस्करण को चुनना ही उचित समझा गया है।[1]

4. सूरसागर का वर्ण्य विषय

सूरसागर के सृजन में सूर ने श्रीमद्भागवत का ही अधिक अनुसरण किया है यद्यपि उन्होने कही-कही उसमें कुछ हेर-फेर किया है या कुछ अपनी नई उद्भावनाएँ जोड़ी है अथवा कुछ बाते अन्य स्रोतो से ग्रहण की है। इसलिए सूरसागर मे 12 स्कंध है।

सूरसागर के प्रतीकों पर विवेचन कर लेने के पूर्व उसके वर्ण्य-विषय को यहां समझ लेना समीचीन है, क्योंकि प्रत्येक प्रतीक को समझने के लिए उससे संबंधित वर्ण्य-विषय का ज्ञान आवश्यक है।

प्रथम स्कंध दो शीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित है—1. विनय और 2. श्री भागवत प्रसंग। विनय के पदों में सगुणोपासना का प्रयोजन, भक्ति की प्रधानता, मायामय संसार आदि पर अच्छे पद है। श्री भागवत प्रसग के अंतर्गत कवि के जो भक्ति विषयक पद है वे उनकी अनुभूति के विषय है।

द्वितीय स्कध मे भी कोई विशेष कथा नही है। भक्ति सम्वन्धी पदों की अधिकता है। तृतीय स्कंध से लेकर अष्टम स्कध तक विष्णु के अवतारों तथा अन्य

[1] अब पण्डित जवाहर लाल चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित बृहत् सूरसागर प्रकाशित हुआ है।

पौराणिक कथाओं का निरूपण है। नवम स्कंध में रामावतार की कथा है जो 'वाल्मीकि रामायण से प्रभावित है।

दशम स्कंध सूरसागर का बहुत बड़ा तथा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्कंध है। इसमें 4309 पद हैं। इसके दो विभाग किये गये हैं—1. पूर्वार्द्ध और 2. उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध में 4161 और उत्तरार्द्ध में 148 पद हैं। इस स्कंध में कृष्ण की कथा अधिक विस्तार से वर्णित है। पूर्वार्द्ध में गोकुल और ब्रज में विहार करनेवाले श्री कृष्ण का चरित्र है और उत्तरार्द्ध में द्वारिका-गमन से मृत्यु तक श्री कृष्ण की जीवनी है। पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध के पदों की संख्या की विषमता को देखने से पता चलता है कि सूर ने राजनैतिक कृष्ण की अपेक्षा बालकृष्ण की जीवनी पर ही अधिक प्रकाश डाला है जो उनके आराध्य थे।

एकादश स्कंध में नारायण तथा हंस के अवतार वर्णित हैं। द्वादश स्कंध में बुद्ध अवतार वर्णन, कल्कि अवतार वर्णन, राजा परीक्षित-हरि-पद-प्राप्ति और जनमेजय कथा अत्यन्त संक्षेप में वर्णित है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि सूरसागर के दशमस्कंध में कृष्ण की कथा अधिक विस्तार से वर्णित है; प्रथम नौ स्कंध उस कथा की भूमिका का काम कर रहे हैं और अंतिम दो स्कंध उस कथा के उपसंहार रूप में लिखे गये हैं। इस प्रकार सूरसागर में दशावतार वर्णन की परम्परा देखने को मिलती है।

5. सूर और शुद्धाद्वैत दर्शन

वल्लभ सम्प्रदाय दार्शनिक दृष्टि से शुद्धाद्वैतवाद और सांप्रदायिक दृष्टि से पुष्टिमार्गीय है। सूरदास भी शुद्धाद्वैतवाद के अनुयायी और पुष्टिमार्गीय थे। इतिहास के उल्लेख और साहित्य के अंतःसाक्ष्य के प्रमाण इस मान्यता के पक्ष में हैं। सूरसागर में प्राप्त सामग्री के आधार पर सूर के दार्शनिक विचारों को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

1. ब्रह्म माया से नितांत अलिप्त होने के कारण शुद्ध है।

    आदि निरंजन निराकार, कोउ हुतौ न दूसर। (379)

2. ब्रह्म निर्गुण भी है और सगुण भी।

    वेद उपनिषद जासु कौं, निरगुनहिं बतावै।
    सोइ सगुण ह्वै नंद की दाँवरी बँधावै। (4)

3. परब्रह्म धर्मी हैं। धर्मी वह है जिसमें विरुद्ध धर्म एक साथ रह सकें।

दयानिधि तेरी गति लखि न परै।
धर्म अधर्म अधर्म धर्म, करि, अकरन करन करै। (104)

4. अक्षर ब्रह्म जीव-जगत् का निर्माण तथा विनाश करनेवाला है।

तुमहीं कर्ता तुमहीं हर्ता, तुम तें और न कोइ। (4919)

5. जगत् परब्रह्म का आधिभौतिक रूप है। यह 28 तत्त्वरूप है।

आदि निरंजन, निराकार, कोउ हुतौ न दूसर।
रचौं सृष्टि-विस्तार, भई इच्छा इक औसर।
त्रिगुन प्रकृति तें महत्तत्व, महत्तत्व तें अहंकार।
मन-इंद्री-सब्दादि-पँच, तातें कियौ विस्तार।
सब्दादिक तें पंचभूत सुंदर प्रगटाए।
पुनि सबकौ रचि अंड, आप मैं आपु समाए।
तीनि लोक निज देह मैं, राखे करि विस्तार।
आदि पुरुष सोई भयौ, जो प्रभु अगम अपार। (379)

6. संसार सुआ–सेंमर की भांति मिथ्या है।

यह संसार सुआ-सेमर ज्यौं सुंदर देखि लुभायौ (335)

7. अ) संसारी जीव अपने असली स्वरूप को भूल जाते हैं।

अपुनपौ, आपुन ही विसरयौ।
ज्यौं स्वान कांच-मंदिर मैं, भ्रमि भ्रमि भूकि परयौ।
ज्यौं सौरभ मृग-नाभि बसत है, द्रुम-तृन सूंघि फिरयौ।
ज्यौं सपने मैं रंक भूप भयौ, तसकर अरि पकरयौ।··· (369)

आ) संसारी जीव आवागमन के चक्र में पड़े रहते हैं।

जिय करि कर्म जन्म बहु पावै।
फिरत फिरत बहुतै श्रम आवै। (411)

इ) जब तक भगवान का भजन नहीं करते तब तक संसारी जीव सांसारिक बंधनों से मुक्त नहीं हो पाते।

जब लगि भजे न चरन मुरारी।
तब लगि होइ न भव जल पारी॥ (411)

8. मुक्त जीव जल में रहनेवाले कमल की भाँति निर्लिप्त रहते हैं।

जीवनमुक्त रहै या भाइ।
ज्यों जल-कमल अलिप्त रहाइ। (394)

9. व्यामोहिका माया हरि की दासी है।

सो माया है हरि की दासी निसिदिन आज्ञाकारी।

10. करण माया क्रियात्मिका है। इसे प्रकट करके ही भगवान समग्र जगत् की उत्पत्ति और उसका पालन एवं नाश करते हैं।

माया माँहि नित्य लय पावैं। माया हरि पद माँहि समावै॥
फिरि जब हरि की इच्छा होइ। देखै माया की दिसि जोइ।
माया सब सबहीं उपजावै। ब्रह्मा ह्वै पुनि सृष्टि उपावै॥
(4936)

11. अविद्या माया आशा के समान है जो जीव को भरमाती रहती है और जिसके कारण मन करुणामय की सेवा को छोड़कर मोह में पड़ जाता है और उनके निकट रहने पर भी कस्तूरी मृग के समान उन्हें नहीं समझ पाता—

तातैं विवस भयौ करुनामय, छांड़ि तिहारी सेव।
+ + +
ज्यौं मृग-नाभि-कमल निज अनुदिन निकट रहत नहिं जानत।
भ्रम-मद-मत्त, काम-तृष्णा-रस-वेग, न क्रमै गह्यौ। (49)

6. सूर और पुष्टि मार्गीय भक्ति

पुष्टिमार्ग की सामान्य विशेषताये इस प्रकार है—

1. पुष्टिमार्ग में जीव को पुष्टि (भगवान् का अनुग्रह) के विना मुक्ति प्राप्त नही होती।
2. इसमें गुरु, सदाचार, अनन्यता, आत्मनिवेदन का महत्त्वपूर्ण स्थान है।
3. पुष्टिमार्गीय भक्ति मुखारविंद की भक्ति हे। इसमें फल की आकांक्षा नही होती।
4. पुष्टिमार्गीय भक्ति की चार स्थितियाँ है—

   (अ) प्रवाह पुष्टि : भक्त संसार में रहते हुए भगवान की भक्ति करता है।

   (आ) मर्यादा पुष्टि : भक्त संसार के समस्त सुखों से विरत होकर कीर्तनादि के द्वारा भगवान की भक्ति करता है।

   (इ) पुष्टि पुष्टि : भक्त भगवान का अनुग्रह प्राप्त करता है; किन्तु भक्ति-साधना में लगा रहता है।

   (ई) शुद्ध पुष्टि : भक्त भगवान की लीलाओं से अपना मानसिक तादात्म्य स्थापित करता है।
5. पुष्टिमार्गीय भक्ति मे सेवा का विशेष महत्त्व है। सेवा का अर्थ है, मानसिक रूप से भगवान मे लीन रहना।
6. सेवा-विधि के अंग : (अ) शृंगार, (आ) भोग और (इ) राग
7. सेवा के सेव्य : (क) श्रीकृष्ण, (ख) श्रीनाथ और (ग) यमुना

8. सेवा के प्रकार

नाम सेवा
स्वरूप सेवा
तनुजा
(शरीर, उसकी इंद्रियों तथा कुटुंबी जनों द्वारा होनेवाली सेवा)
वित्तजा
(द्रव्य या अन्य सामग्री के दान आदि से की जानेवाली सेवा)
मानसी
मर्यादा मार्गीय
(इसमें भक्त मर्यादा मार्ग पर चलते हुए अपनी अहंता और ममता को दूर करता है।)
पुष्टिमार्गीय
भावात्मक
क्रियात्मक
नित्य सेवा-विधि
वर्षोत्सव की सेवा-विधि
1. मंगला (कृष्ण के विग्रह को जगाना)
2. शृंगार (कृष्ण का स्नान, अंगरादि का लेपन, वस्त्रालंकरण)
3. ग्वाल (कृष्ण को घैया का आरोगाई जाना)
4. राजभोग
5. उत्थापन (छः घड़ी जब दिन रहता है तब कृष्ण को जगाना)
6. भोग जगने के बाद फल-फूल का भोग)
7. संध्या आरती (वन से गायों को लेकर आने पर कृष्ण का पूजन)
8. शयन (कृष्ण के स्वरूप का पौढ़ाया जाना)
1. श्रीकृष्ण के नित्य और अवतार लीलाओं के उत्सव
2. छः ऋतुओं के उत्सव
3. लोक तथा वैदिक पर्व

वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित होने के कारण सूर में पुष्टिमार्ग की सब मान्यतायें देखने को मिलती हैं—

1. सूर ने गुरु की महिमा गायी है—

   हरि लीला अवतार पार सारद नहिं पावै।
   सतगुरु-कृपा-प्रसाद कछुक तातें कहिं आवै। (1110)

2. सूर ने राजा अम्बरीष की कथा में भक्त के सदाचारपूर्ण कार्यक्रम का उल्लेख किया है—

   जिन तन-वन मोहिं प्रान समरपे, सील, सुभाव बड़ाई।
   ताकौ विषम विषाद अहो मुनि मोपै सह्यौ न जाई।
   (451)

3. सूर अनन्य भाव से श्रीकृष्ण के उपासक थे, यद्यपि उन्होंने श्रीकृष्ण के अतिरिक्त राम, नृसिंह, वामन आदि अवतारों का गुण-गान किया है। उनके अनन्याश्रय का भाव इस पद में पूर्णतः परिलक्षित होता है—

   मेरो मन अनत कहां सुख पावै।
   जैसें उड़ि जहाज कौ पच्छी, फिरि जहाज पर आवै। (451)

4. सूर ने नाम-सेवा का वर्णन किया है। वे हरिनाम की महिमा बताते हुए उनका स्मरण करने का उपदेश देते हैं—

   है हरि भजन कौ परमान।
   नीच पावै ऊंच पदवी, बाजते नीसान।
   भजन कौ परातम ऐसौ, जल तरै पापान। (418)

5. सूर ने पुष्टिमार्गीय सेवाविधि के दोनों क्रमों—नित्य सेवाविधि और वर्षोत्सव की सेवाविधि—का वर्णन किया है। उन्होंने क्रियात्मक नित्य सेवा-विधि के अन्तर्गत मंगला (1057), शृंगार (803), ग्वाल (1284), राजभोग (856), संध्या (1035, 1075) शयन (1055) और वर्षोत्सव सेवा-विधि के अन्तर्गत संवत्सर, रथयात्रा, जन्माष्टमी, रामनवमी, रास, अन्नकूट, डोल, फूलमंडली, हिंडोरा, होली, दिवाली, आदि का वर्णन किया है।

(ड) मनोवैज्ञानिक प्रतीकवाद

1. स्वप्न की प्रतीकात्मकता : अधिकतर स्वप्न प्रतीकात्मक होते हैं। फ्रायड ने स्वप्न को काम-भावना से संबंधित आदिम इच्छाओं का प्रतीक माना है। युंग के अनुसार स्वप्न-प्रतिमाएँ प्रतीकात्मक हैं; वास्तविक नहीं। अधिकतर स्वप्न तथ्यों का दिग्दर्शन प्रतीक रूप में होता है। युंग का यह भी विचार है कि स्वप्न में निष्कासित इच्छाओं के अतिरिक्त अज्ञातमन की भाव-प्रतिमाओं का भी मानवी-करण होता है। स्वप्न में सदैव अतीत, वर्तमान और भविष्य की ओर प्रतीकात्मक निर्देशन रहता है।[1]

2. स्वप्न के प्रतीकात्मक होने के कारण : स्वप्न के प्रतीकात्मक होने के ये कारण माने जाते हैं —

क. स्वप्न समझे न जा सकें और स्वप्न की मूल इच्छाएँ—जिन पर सामाजिक मान्यताओं का प्रतिबंध लगाया गया है—पहचानी न जा सकें, अज्ञात रहें।

ख. सामूहिक अज्ञात मन में रहनेवाली आदिम भाव-प्रतिमाओं द्वारा प्राप्त अभिव्यंजना-शक्ति के उपयोग की ताक में व्यक्ति का मन बैठा रहता है। अवकाश पाकर वह स्वप्न में प्रतीकों का प्रयोग करता है।

ग. जैन के अनुसार मानसिक विच्छेद के कारण भी स्वप्नावस्था में प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति होती है।

3. स्वप्न प्रतीकों का मिथ्यात्व : नैतिक निषेध के कारण स्वप्न में व्यक्त होनेवाली भावनायें अपने निज रूप में प्रकट नहीं हो पाती हैं। वे मन में असत् रूप की कल्पना करती हैं। जिस रूप में वे प्रकट होती हैं, वह रूप मन के बाहर, इंद्रियों द्वारा सत् रूप में ग्रहण किया जाता है। लेकिन प्रकट रूप भी भावनाओं के वास्तविक स्वरूप की व्यंजना नहीं करता। इस प्रकार भावनाओं का मन में कल्पित रूप और प्रकट होने पर इंद्रियों द्वारा ग्राह्य रूप, दोनों ही मिथ्या हैं। मांडूक्योपनिषद् में यही बात कही गयी है —

स्वप्नवृत्तावपि त्वन्तश्चेतसा कल्पितं त्वसत् ।
बहिश्चेतोगृहीतं सद्दृष्टं वैतथ्यमेतयोः ॥[2]

स्वप्न के मिथ्यात्व के आधार पर ही दर्शन को मिथ्या 'स्वप्न दर्शन' के नाम

[1] द्रष्टव्य, प्रतीकवाद-मनोवैज्ञानिक अध्ययन, डॉ० पद्मा अग्रवाल, पृ० 36
[2] मांडूक्योपनिषद्, वैतथ्यप्रकरण, पृ० 91, श्लोक 9 (उप० भा०, खंड 1)

से अभिहित है। सूर ने गोपियों के विरह प्रसंग में 'स्वप्न दर्शन' वाले पदों के द्वारा स्वप्न के मिथ्यात्व की व्यजना की है —

गनतहिं आनि अचानक कोकिल, उपवन बोलि जगाइ ॥
जो जागौं तौ कहि उठि देखौं, विकल भई अधिकाई ॥[1]

(ई) कलागत प्रतीकवाद

1. कला में प्रतीकों का प्रयोग

कला में दमित प्रकृत इच्छाओं का उदात्तीकरण होता है। इस उदात्तीकरण से मुख्यतः दो लाभ है—

अ. व्यक्ति को स्थानापन्न तुष्टि (प्रकृत इच्छाओं की उन्नत और प्रतिनिधि रूप में तुष्टि) मिलती है। इससे व्यक्ति मूल वासना (इड) की प्रकृत इच्छाओं से सुरक्षित रहता है।

आ. ज्ञात और अज्ञात मन के मध्य समायोजन स्थापित होता है।

इस उदात्तीकरण की प्रक्रिया में दमित इच्छाये प्रतीकों के द्वारा व्यक्त होती है। कला मे दो प्रकार के प्रतीक होते है— 1. व्यक्तिगत और 2. जातिपरक। इसके सबध मे, विभिन्न विद्वानों ने जो विचार व्यक्त किये है, वे इस प्रकार है[2]—

क. **फ्रायड़ का सिद्धांत :** फ्रायड़ ने प्रतीकात्मक कला को व्यक्तिगत भाव-इच्छा-कल्पनाओ की अभिव्यक्ति मात्र मानी है क्योंकि उन्होने अज्ञान मन के स्वरूप की व्याख्या दमन-सिद्धात पर की है।

ख **युंग का मत :** युंग उस कला को प्रतीकात्मक मानते है जिसमें मानव की जातीय विशेषताओ की प्रतिच्छाया दृष्टिगत हो। जातीय विशेषताओं से उनका तात्पर्य पूर्वजो से प्राप्त तथा सार्वभौम सवेगात्मक और वृत्ति सवधी इच्छाओं से है। वे यह मानते है कि प्रत्येक व्यक्ति मे प्रारम्भ से ही भाव-प्रतिमाएँ रहती है। और वे कलाकार की व्यक्तिगत अनुभूतियो से पुष्ट होकर जीवन ग्रहण कर लेती है। इस प्रकार युंग कला मे जाति-परक प्रतीकों को प्रधानता देते है। वे व्यक्तिगत अनुभूतियो को केवल कला के उद्दीपक मानते हैं।

[1] सा०, 3878
[2] द्रष्टव्य, प्रतीकवाद, डॉ० पद्मा अग्रवाल, पृ० 37, 118–9

ग. **डा० पद्मा अग्रवाल का दृष्टिकोण :** डॉ० पद्मा अग्रवाल का समन्वयात्मक दृष्टिकोण है। वे फ्रायड़ तथा युंग के सिद्धांतों का समन्वय करते हुए अपने नये सिद्धांत का प्रतिपादन करती हैं। वे कला को अज्ञात मन के व्यक्तिगत और जातीय तथ्यों का प्रतीकात्मक प्रदर्शन मानती हैं। वे यह मानती हैं कि कला में केवल कलाकार के व्यक्तिगत आंतरिक संघर्ष और भाव-ग्रंथियों अथवा उसके मन में उमड़ते हुए उद्गार तथा नैराश्य भाव के प्रतीक नहीं मिलते हैं, वल्कि जातीय तथ्यों का भी दिग्दर्शन होता है। जातीय तथ्यों से उनका तात्पर्य उन गूढ़ प्रवृत्तियों और भाव-कल्पनाओं से है जो मानव के व्यक्तित्व में सार्वभौम रूप से क्रियाशील रहती हैं। वे कला में कहीं दिखाई पड़नेवाले कलाकार के व्यक्तिगत संघर्ष में भी सामान्य-सार्वभौम मूल्य-महत्त्व मानती है।

डॉ० पद्मा अग्रवाल का दृष्टिकोण अत्यन्त समीचीन मालूम पड़ता है क्योंकि वास्तव में श्रेष्ठ कलाओं में सार्वभौमिक सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की ही अभिव्यक्ति होती है यद्यपि कहीं-कहीं कलाकार की व्यक्तिगत अनुभूतियों का चित्रण रहता है। हम उदाहरण के लिए मुगल चित्रकला को ले सकते है। उसमें मुगलों के जातिगत तथ्य मिलते हैं। इसी प्रकार 'हैमलेट' तथा 'मेकवेथ" शेक्सपियर की कहानियाँ नहीं, वल्कि वे सब की हैं। कालिदास कृत 'मेघदूत' में यक्ष के प्रेम का चित्रण ही नहीं, वल्कि उसमें प्रेम का सार्वभौमिक तथा सार्वकालीन चित्रात्मक वर्णन है।

इस प्रकार हम देखते है कि कला में कलाकार की व्यक्तिगत छिपी इच्छा की अभिव्यक्ति नहीं, सामान्य रूप से मानवता की ध्वनि गुंजरित मिलती है।

2. प्रतीक: रूढ़ और गत्यात्मक

फ्रायड़ प्रतीक को रुढ़ मानते हैं। उनके अनुसार प्रतीकों का स्थिर और सार्वभौम अर्थ होता है। किन्तु युंग, फ्रायड़ के इस विचार से सहमत नहीं हैं। वे प्रतीक को गत्यात्मक मानते है। उन्होंने यह प्रमाणित किया है कि प्रतीक का अर्थ प्रसंग के अनुसार दो या अधिक हो सकता है। प्रतीक का अर्थ सापेक्षिक रूप से प्रसंग, संदर्भ, वैयक्तिक साहचर्य एवं अन्य प्राप्य विवरणों के आधार पर ही निश्चित किया जा सकता है। एक ही प्रतीक का अर्थ दो व्यक्तियों के लिए भिन्न हो सकता है। सम्भव है एक ही प्रतीक का अर्थ एक ही व्यक्ति के लिए विभिन्न मानसिक अवस्थाओं और परिस्थितियो मे भिन्न हो। सर्प-प्रतीक एक के लिए काम और दूसरे

के लिए भय का व्यंजक हो सकता है। प्रतीक का निश्चित अर्थ नहीं होता।[1]

सशेना लांगर भी युंग के ही विचार रखते हैं। वे सूरज को गत्यात्मक प्रतीक मानते हुए कहते हैं कि सूरज देवता या नायक का प्रतीक ही नहीं, वल्कि वह परिवर्तनशील शक्तियों के स्रोत या कामेच्छा का प्रतीक है।[2] वैटहेड ने भी प्रतीकों को गत्यात्मक माना है। उनके अनुसार विभिन्न लोगों के लिए प्रतीक के विभिन्न अर्थ हो सकते हैं।[3]

(उ) भाषागत प्रतीकवाद

1. **चित्रलिपि और प्रतीक :** आदि मानव की प्रतीकात्मक कल्पना का सुन्दरतम विकास हमें चित्रलिपि में मिलता है। चित्र लिपि की प्रारम्भिक स्थिति में चित्र केवल किसी प्राणवान् या निर्जीव पदार्थ के 'प्रतीक' के रूप में देखे गये। लेकिन चित्रलिपि की विकसित स्थिति में चित्र विचारों और अव्यक्त कल्पनाओं के प्रतीक रहें। उदाहरण के लिए हम वृत्त (Circle) को ले सकते है। वृत्त केवल सूर्य का ही प्रतीक नहीं, वल्कि ताप, प्रकाश तथा देवता का भी प्रतीक था। ये चित्र-प्रतीक शब्द-चिह्न कहे जाते हैं और चित्रलिपि 'विचार वाहक चित्रलिपि' के नाम से अभिहित होती है। रसल के अनुसार चित्र प्रतीक जिन विचारों की अवतारणा करते है, वे विचार ही उन प्रतीकों के अर्थ होते हैं।[4]

2. **ध्वनि शब्द से प्रतीक तक:** आदि ध्वनि-शब्द मानवीय क्रिया के द्योतक थे। वे ध्वनि-शब्द किसी घटना अथवा सन्दर्भ से सीधे सम्बन्धित थे (चित्र 1)। वे ध्वनि-शब्द विचारात्मक स्वरूप को प्राप्त नहीं हुए थे। वे केवल कुछ क्रियाओं या शरीर के कार्यो को प्रकट करते थे।[5] यही वात हर एक बच्चे की आरम्भिक भाषा के लिए ठीक है। वच्चा जब शब्दों का उपयोग करना सीखता है तो वह उनके अर्थ पर नहीं जाता। उनके द्वारा होने वाले कार्य की ओर जाता है।[6] जब वह कहता है

[1] प्रतीकवाद, डॉ० पद्मा अग्रवाल, पृ० 15
[2] Philosophy in a New Key: A Study in the Symbolism of Reason, Rite and Art, Susanne K. Langer.
[3] Symbolism: Its meaning and effect, Whitehead, P. 63
[4] The Analysis of Mind, Russel, पृ० 194
[5] The Problem of Meaning in Primitive Language, Appendix I in the 'Meaning of Meaning', Bronislaw Malinowski, पृ० 317
[6] वही, पृ० 321

'मार' तो उसके मन में मारने की भावना के बजाय मारने की क्रिया होती है। दूसरी स्थिति में ये शब्द पदार्थ से सीधे सम्बन्धित रहते थे (चित्र 2)। तीसरी दशा में जब क्रियात्मक वाणी या भाषा का स्वरूप पूर्ण रूप से मुखर हो जाता है, उस समय क्रियात्मक पदार्थ से अथवा संदर्भ से एक रहस्यात्मक सम्बन्ध की पुष्टि करते हैं। इस दशा में क्रियात्मक प्रतीक (शब्द) एक आनुष्ठानिक शक्ति के रूप में प्रयुक्त होता है जिसे हम शब्द-तंत्र कह सकते हैं (चित्र 3) चौथी स्थिति में क्रियात्मक प्रतीक विचार-वाहक प्रतीक की श्रेणी में आ जाता है। इस दशा में प्रतीक अर्थ-गर्भित संदर्भों की अवतारणा करता है (चित्र 4)। [illegible] आदि चिह्न ही क्रमशः विचारवाहक प्रतीकों के रूप में विकसित हो सकें।

चित्र 1

अ	जो सीधी	ब
ध्वनि क्रिया	सम्बन्धित है	घटना अथवा संदर्भ से

चित्र 2

अ		ब
क्रियात्मक ध्वनि (उच्चारित)	का सम्बन्ध	निर्दिष्ट पदार्थ अथवा वस्तु से

चित्र 3

(क्रियात्मक वाणी का रूप)

चित्र 4

(तर्कमय भाषा का रूप)

3 अवतार प्रतीक
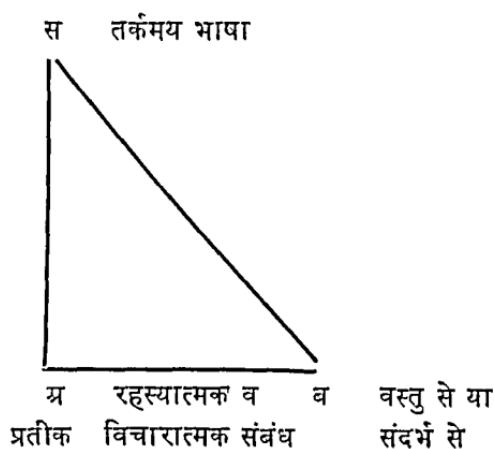
अ) अवतार की परिभाषा: अवतार की अनेक परिभाषायें है। उन सब पर विचार करना यहां अभीष्ट नहीं है। हम यहां रामकृष्णानन्द की परिभाषा का उल्लेख कर सकते हैं जो सरल, संक्षिप्त तथा अवतार के स्वरूप को प्रकट करने वाला है। उनके अनुसार 'दुनियां की बुराइयों को दूर करने के लिए जब भगवान मांसयुक्त रूप में आता है तब हम उसे अवतार कह सकते हैं।'[1]

आ) अवतार का हेतु: श्रीमद्भगवद्गीता मे अवतार का हेतु बताते हुए श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है, 'जब जब धर्म की ग्लानि या ह्रास होता है, उसका' बल क्षीण हो जाता है और अधर्म सिर उठता, प्रबल होता और अत्याचार करता है तब-तब अवतार आते और धर्म को फिर से शक्तिशाली बनाते हैं।'[2] यहां धर्म से तात्पर्य, श्री अरविंद के शब्दों में, उस आँतरिक और बाह्य-विधान से है जिसके द्वारा भागवत संकल्प और भागवत ज्ञान मानव जाति का आध्यात्मिक विकास साधित करते और जाति के जीवन में उसकी विशिष्ट परिस्थितियाँ और उनके परिणाम उत्पन्न करते हैं।[3]

इ) अवतार के कार्य: प्रत्येक अवतार का प्रत्यक्ष कार्य भिन्न होते हुए भी आंतरिक रूप से सभी अवतारों के उद्देश्य समान होते है और उस समानता को तीन रूपों में देखा जा सकता है—

1. अवतार आत्मानुशासन का धर्म बतलाते हैं जिससे मनुष्य निम्नतर जीवन से उच्चतर जीवन में संवर्धित हो।

[1] God and Divine Incarnations, Swami Rama Krishnananda, पृ० 70

[2] यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय 4, श्लोक 7

[3] द्रष्टव्य, अवतार, श्री अरविंद, पृ०21

2. अवतार एक सघ की स्थापना करते हे। संघ से तात्पर्य उन लोगो के सत्य और एकत्व से हे जो अवतार के व्यक्तित्व और शिक्षा के कारण एक सूत्र में बध जाते हे।

3. अवतार बाह्य सग्राम मे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सहायता करते है और व्यक्तिगत मानव सत्ता के अन्दर स्वर्ग-राज्य का निर्माण करते है।[1]

ई) अवतार की कार्य-प्रणाली. निर्गुण ब्रह्म अपनी ही इच्छा से आकार-प्रकार मे उतरकर जन्म लेते ह और उसी आकार-प्रकार के अन्दर रहकर ही कर्म करते हे। किन्तु वे उसके अन्दर भागवत चेतना और भागवत शक्ति को ले आते हे। इसी भागवत चेतना और भागवत शक्ति के द्वारा वे शरीर के अन्दर होने वाले प्रकृति के कर्मो का नियमन करते हे और तद्द्वारा सारी प्रकृति का भी शासन करते है। इस प्रकार अवतार ब्रह्म का ही कार्य करता है, किन्तु स्वयं छिपे हुए रहकर।

अवतार अपने भीतर की भागवत उपस्थिति और शक्ति से तादात्म्य का अनुभव करता हे। अवतार का आकार, उनका रहन-सहन, उनकी कार्य-प्रणाली आदि देखकर उनके निकटतम व्यक्ति भी समझ नही सकते कि वह अवतार हे।

उ) अवतारों की संख्या: श्रीमद्भागवत मे तीन स्थलो पर अवतारो का वर्णन है। उसके प्रथम स्कध के तृतीय अध्याय मे 22 अवतारो का उल्लेख ह, द्वितीय स्कन्ध के सप्तम अध्याय मे 23 और एकादश स्कन्ध के चतुर्थ अध्याय मे 16 अवतारो का वर्णन हे। इन अवतारो मे सनत्कुमार, सात्वतविधि के उपदेष्टा नारद, कपिल, दत्तात्रेय, ऋषभ, धन्वन्तरि, बुद्ध तथा अन्य प्रसिद्ध अवतारो की गणना है। महाभारत के नारायणीय उपाख्यान मे शूकर, नृसिह, वामन, परशुराम, राम और कृष्ण छ अवतार लिखे हे। हरिवश पुराण मे भी यह छः अवतार है, पर कृष्ण के स्थान पर वहा सात्वत नाम दिया ह ओर हस, कूर्म मत्स्य तथा कल्कि चार अवतार और जोड़कर सख्या 10 कर दी गई हे। वाराह पुराण हस के स्थान पर बुद्ध लिखकर अवतारो के अन्य यही नाम स्वीकार करता हे। अग्निपुराण वारह पुराण का अनुकरण करता ह। वायु पुराण महाभारत के 6 अवतारो मे दत्तोत्रेय, पचम, वेदव्यास ओर कल्कि के नाम जोड़कर सख्या 10 कर देता है।[2] इस प्रकार अवतारो की सख्या सब पुराणो मे एक समान नही हे।

[1] द्रष्टव्य, अवतार, श्री अरविंद, पृ० 22–24

[2] भक्ति का विकास, डॉ० मुशीराम शर्मा, पृ० 334

ऊ) **अवतार की प्रतीकात्मकता:** जैसा कि पीछे स्पष्ट किया गया है, अवतार ब्रह्म का आविर्भूत रूप है, जो इन्द्रिय ग्राह्य है। अतएव सगुण साकार अवतार दृश्य ब्रह्म इंद्रिय-ग्राह्य रूप में ब्रह्म का प्रतीकात्मक रूप है। 'स्वामी अखिलानन्द ने भी इसी आधार पर अवतार को ब्रह्म का प्रतीक माना है।'[1] तिलक ने भी 'गीता-रहस्य' में अवतार को ब्रह्म का प्रतीक ही बताया है।[2]

प्रत्येक अवतार एक जागतिक उन्मेष और चेतना का भी प्रतीक है।[3] क्योंकि उस अवतार विशेष की पृष्ठभूमि में जन-समुदाय की वर्गीय, जातीय, आध्यात्मिक, पौराणिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, सांस्कृतिक क्षेत्रों में जाग्रत एवं प्रबुद्ध चेतना का भी योग रहा है (आगे सूरसागर में वर्णित 'अवतार प्रतीक विवेचन' के अन्तर्गत अवतारों की चर्चा इन्हीं दृष्टियों से की गई है), जो सभ्यता के विभिन्न युगों में नवोत्थान-क्रिया का संचार करती रही है।

ए) **सूरसागर में वर्णित अवतार :** सूर ने सूरसागर में दस प्रमुख अवतारों और चौदह अन्य अवतारों का उल्लेख किया है।[4] यथा—

अ) प्रमुख अवतार : 1. मत्स्य 2. कूर्म 3. वराह 4. नृसिंह 5. वामन 6. परशुराम 7. राम 8. वासुदेव 9. बुद्ध 10. कल्कि।

आ) अन्य अवतार : 1. सनकादिक अवतार 2. व्यास 3. हंस 4. नारायण 5. ऋषभदेव 6. नारद 7. धन्वंतरि 8. दत्तात्रेय 9. पृथु 10. यज्ञपुरुष 11. कपिल 12. मनु 13. हयग्रीव 14. ध्रुव।

सूर ने उपर्युक्त चौबीस अवतारों में धन्वंतरि, मनु, हयग्रीव को छोड़कर बाकी इक्कीस अवतारों का वर्णन किया है। धन्वंतरि का समुद्र-मंथन से निकले हुए चौदह रत्नों में एक के रूप में उल्लेख किया है। मनु की वंश-परंपरा बतायी गयी है। हयग्रीव अवतार का स्वतंत्र रूप से वर्णन नहीं किया गया है। उस अवतार का उद्देश्य भी मत्स्यावतार के उद्देश्य में ही समाहित किया गया प्रतीत होता है।

[1] हिन्दू साइकोलजी, पृ० 115

[2] गीता रहस्य, पृ० 435

[3] मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, डॉ० कपिलदेव पाडेय, पृ० 719

[4] सा०, 379

ऐ) अवतार प्रतीक विवेचन

1. मत्स्य अवतार

सूरसागर में मत्स्यावतार के दो प्रयोजन बताए गए हैं—क) सत्यव्रत मनु को प्रलय दिखाना, ख) शंखासुर से चुराए गए वेदों को छीनकर ब्रह्मा को देना।

क) सत्यव्रत मनु को प्रलय दिखाना: सत्यव्रत मनु नामक राजा ने स्नान करके अन्जिल में जल लिया। उन्होंने उसमें मछली देखकर उसे फेंक दिया। मत्स्य ने उनसे प्रार्थना की—"मैं आपकी शरण में आया हूँ। कृपा करके मेरी रक्षा कीजिए।" सत्यव्रत मनु ने वैसा ही किया। उन्होंने मत्स्य को निरन्तर बढ़ते देखकर उसे विष्णु का ही रूप समझ लिया। मत्स्य रूप विष्णु ने उनसे कहा—"(आज से) सातवें दिन मैं तुझे प्रलय दिखाऊंगा।" यह कहकर वे अन्तर्धान हो गए।

सातवें दिन राजा समुद्र के पास आये। नाव वहां आ पहुँची। उसमें बैठे हुए सप्तर्षियों ने कहा—"हम तुम्हारी रक्षा करेंगे। नाव में बैठ जाओ। राजा ने उनसे पूछा—" मैं मत्स्य भगवान को अब कहां पाऊंगा।" ऋषियों ने उन्हें उनका ध्यान करने की सलाह दी। राजा ने वैसा ही किया। मत्स्य भगवान वहां प्रकट हुए। राजा ने उनसे ज्ञान की कुछ शंकायें व्यक्त कीं। मत्स्य भगवान ने उनकी शंका-निवृत्ति कर प्रलय-माया दिखायी।

ख) शंखासुर से चुराए गए वेदों को छीनकर ब्रह्मा को देना: शंखासुर ब्रह्मा के वेदों को ले गया था। मत्स्य भगवान ने उसे मारकर उससे वेद छीनकर ब्रह्मा को दिये।

इस अवतार के वर्णन में आए हुए मुख्य प्रतीकों की प्रतीकात्मकता इस प्रकार है—

1. **प्रलय:** विश्व के साहित्य के अध्ययन से ऐसा पता चलता है कि प्रलय की यह घटना वास्तव में घटी थी। यह प्रलय संभवत: वर्तमान मेसोपोटामिया और पशिया के उत्तर पश्चिम प्रदेश में हुआ था। मेसोपोटामिया में शतल अरब नामक एक बड़ी नदी है। उसमें एक लाख बीस हजार नहरें थीं, जिनमें नावें चलती थीं। वह समुद्र के समान ही गहरी और बड़ी थी। किसी ज्वालामुखी के स्फोट से बर्फ की चट्टानें टूटकर इस नदी में बाढ़ आयी होगी। फलत: फारस की खाड़ी और काश्यप

सागर के बीच का समूचा प्रदेश डूब गया। वहां के सब जीव-जंतु-वनस्पति नष्ट हो गयीं। अर्राट जाति नष्ट हुई। लेकिन उसी भूस्थल में कुछ ऐसे स्थल थे, जो समुद्र-तल से अठारह हजार फुट तक ऊंचे थे। वहां सम्भवतः जल नहीं पहुँचा। परन्तु वृक्ष, वनस्पति, मनुष्य, पशुपक्षी इस देश के भी नष्ट हो गए।[1] इस नाश ने प्रलय को विश्व-विनाश का प्रतीक बना दिया। इस विनाश की स्थिति अर्राट जाति के जीवित बचे व्यक्तियों के मन में इतनी तीव्र रही कि उन्होंने, जहाँ भी वे गये, वहां के साहित्य में उसका वर्णन किया। भारतीय प्राचीन साहित्य में उसकी गूँज मनु की कथा के साथ सम्बद्ध दिखाई पड़ती है।

पौराणिक विश्वास के अनुसार प्रलय के दो प्रकार हैं--1. महाप्रलय और 2. खंड प्रलय। यद्यपि पुराणों में मनु सम्बन्धी प्रलय को महाप्रलय ही कहा गया है, लेकिन यह खंड प्रलय ही था। अन्यथा सत्यव्रत मनु के जीवित रहने की संभावना ही नहीं थी। इस प्रकार सृष्टि-विकास की दृष्टि से प्रलय जल-युग का प्रतीक है।

2. मत्स्यः मत्स्यावतार की कथा में वर्णित मत्स्य में निरन्तर विकास दिखायी पड़ता है। सूर ने इस बात की ओर संकेत करते हुए लिखा है—

> पुनि कमंडल धर्‌यौ, तहाँ सो बढ़ी गयौ, कुम्भ धरि
> बहुरि पुन माट राख्यौ।
> पुनि धर्‌यौ खाड़, तालाब मैं पुनि धर्‌यौ, नदी
> मैं बहुरि पुनि-डारि दीन्हौ।[3]

मत्स्य के इस विकास की क्रिया में जीव-विकास के परिपोषण और स्थान-गत तथा कालगत परिवर्तन दिखाई देता है जो जलजीवयुग के विशिष्ट्योद्भव को बताता है। लघु मत्स्य में अमीबा के सभी गुण लक्षित होते हैं। अमीबा एक कोशीय प्राणी है। वह अपनी कामना के अनुसार सतत आकार परिवर्तन करता है। अतएव लघु मत्स्य आदि जीव (अमीबा) का प्रतीक माना जा सकता है। समुद्र में डाला गया बृहत् मत्स्य सरीसृप युग के आरम्भिक दिनों का प्रतिनिधि पुराण प्रतीक मालूम होता है क्योंकि सरीसृप युग के जीव विशाल आकारवाले थे।[4]

[1] द्रष्टव्य, वयं रक्षामः, आचार्य चतुरसेन शास्त्री, पृ० 30–31

[2] वही

[3] सा०, 443

[4] द्रष्टव्य, मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, डा० कपिलदेव पाँडेय, पृ० 666

सांस्कृतिक दृष्टि से मछली मत्स्य जाति के लोगों की प्रतिनिधि पुराण प्रतीक है। मत्स्य का निरंतर बढ़ते जाना मत्स्य जाति के लोगों के निरन्तर राज्य-विस्तार करते जाने का प्रतीक है। प्रलय के पूर्व मत्स्य जाति के लोग बेबिलोनिया के राज्य का शासन करते थे। यह जाति प्रसिद्ध नाविक थी। मनु के परिवार की रक्षा में इस जाति ने सहायता की होगी।[1]

3. **सत्यव्रत मनुः** सत्यव्रत मनु ने मत्स्य भगवान से सन्देह व्यक्त किया—"अहं, ममता आदि मानव को सदा लगी रहती हैं। मानव काम, मोह, मद, क्रोध आदि से युक्त मंद बुद्धिवाला होता है। वह सुख के लिए कर्म करता है। किन्तु इससे वह नित्य दुःख ही पाता है। वह कार्य-कारण रूप आपका ध्यान नहीं करता। जन्म-मरण से मैं सदा दुखी हूँ। अतः मुझे आप सदा जीवित रखने वाला ज्ञान दीजिए।"[2] इस सन्देह में व्यक्त होनेवाली सत्यव्रत मनु की विचारधारा के आधार पर हम उन्हें समष्टि-विज्ञान तथा व्यक्ति-मन का प्रतीक कह सकते हैं।[3]

सांस्कृतिक दृष्टि से सत्यव्रत मनु संभवतः मन्यु-अभिमन्यु या उनका वंशधर था। मन्यु ने सुपा नगरी बसाई थी और उसे अपनी राजधानी बनाई थी। वह प्रसिद्ध नगरी वेरखा नदी के तट पर थी, जो उस काल में सभ्यता का केन्द्र थी।[4]

4. **शंखासुरः** शंखासुर ने ज्ञान स्वरूप वेदों को निगल लिया था। अतः वह उस चेतनता का प्रतीक है जिसके अन्तर्गत सारा विश्व विलीन होता है।[5]

5. **वेदः** वेद उन शब्दों के प्रतीक हैं जिनसे इस विश्व की समस्त वस्तुओं का निर्माण हुआ है।[6] सांस्कृतिक दृष्टि से वे आर्य-संस्कृति तथा सभ्यता के प्रतीक हैं।

2. कूर्म अवतार

सूर से वर्णित कूर्म-अवतार का अध्ययन दो शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा

[1] द्रष्टव्य, वयं रक्षाम, पृ० 30
[2] सा०, 443
[3] The Glorification of the Great Goddess, Vasudeva S. Agrawala, P. 956
[4] द्रष्टव्य, वयं रक्षामः, पृ० 30
[5] The Puranas in the light of Modern Science, K. Narayanaswami Aiyar, पृ० 213
[6] वही, पृ० 215

सकता है—1. समुद्र मंथन और 2. मोहिनी से अमृत का बँटवारा ।

1. **समुद्र मंथन :** हरि की सलाह पर देवता राक्षसों के साथ वासुकि को नेति बनाकर मंदराचल से समुद्र को मथने लगे। मथते समय मंदराचल समुद्र में डूबने लगा। तब देवताओं की प्रार्थना पर हरि ने कूर्म रूप धारण कर पहाड़ को अपनी पीठ पर उठाया। मंथन के समय चौदह रत्न निकले[1]—

1. हलाहल (शिव जी ने इसे अपने कंठ में धारण किया)
2. चन्द्रमा (यह मुरारी को दिया गया)
3. कामधेनु (यह सप्तर्षियों को दी गई)
4. अप्सरा, 5. पारिजात, 6. धनुष, 7. अश्व (उच्चैश्रव) 8. श्वेतगज (ऐरावत) : ये पांच रत्न इंद्र को दिए गए
9. शंख, 10. कौस्तुभमणि, 11. लक्ष्मी: ये तीनों रत्न विष्णु को मिले।
12. धन्वंतरि
13. सुरा: यह असुरों को मिला।
14. अमृत: यह देवताओं को प्राप्त हुआ।

प्रतीक-विवेचन: समुद्र-मंथन की इस घटना में आनेवाले विभिन्न प्रतीकों की प्रतीकात्मकता का अध्ययन विविध दृष्टियों से किया जा सकता है।

(अ) आध्यात्मिक दृष्टि से: आध्यात्मिक दृष्टि से देखने पर विभिन्न प्रतीक और उनके प्रतीकेय इस प्रकार हैं—

सागर—मानस; देवता—सद् प्रवृत्तियां; राक्षस—असद् प्रवृत्तियां; मंदराचल—सूक्ष्म-ज्ञान; वासुकी—अहं; विष—वासनाएं; सुरा—मृत्यु; अमृत—विष; कूर्म—बल, सहिष्णुता।

सूक्ष्म ज्ञान तथा मानस के संसर्ग से आने पर अहं वासनाओं के सांगत्य को छोड़ बैठता है। तब अहं और सूक्ष्म ज्ञान मिलकर व्यक्ति की असद् प्रवृत्तियों का नाश करते हैं और सद् प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देते हैं। मानस इसके लिए आवश्यक सहायता प्रदान करता है। फलतः अन्त में असद् प्रवृत्तियों को मृत्यु और सद् प्रवृत्तियों को मुक्ति मिलती है। समुद्र-मथन इस प्रकार एक प्रतीकात्मक साँग रूपक है।[2]

आ) सृष्टि विकास की दृष्टि से :

1. **कूर्म :** यह उस युग का प्रतीक माना जा सकता है जिसमें सरीसृप प्रकार

[1] सा०, 434

[2] द्रष्टव्य, Tapovan Prasad, vol. VI, No. I, P. 36

के जीवों का प्रातिनिध्य था। उन जीवों ने अपने को जल और पृथ्वी दोनों में रहने के अनुकूल बना लिया था।

2. चौदह रत्न : ये समुद्र से प्राप्त संपत्ति के प्रतीक हैं।

3. देवता और राक्षस: ये दिव्य और भयानक शक्तियों के प्रतीक हैं। इनका संघर्ष दिव्य और भयानक शक्तियों के पारस्परिक संघर्ष का प्रतीक है।

(इ) साँस्कृतिक दृष्टि से : विश्व साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि काश्यप सागर (Caspian Sea) के निकट जो ग्रेट डेजर्ट है, वहीं प्रथम दैत्यों ने स्वर्ण की खानों का पता लगाया था। अतः उनपर उनका ही आधिपत्य था। लेकिन काश्यप सागर को पार करने में जिन देवों तथा नागों ने सहायता की थी, उन्हें यह बात खलने लगी। देव कहने लगे—"हम और दैत्य दायाद बांधव हैं। अतः हमें आधा स्वर्ण प्रदेश और काश्यप-सागर-तट मिलना चाहिए।" लेकिन दैत्यों ने इसे नहीं माना। तब देवताओं के नेता विष्णु के छल-बल से उनका स्वर्ण हथिया लिया। इस सांस्कृतिक अध्ययन से मालूम होता है कि समुद्र-मंथन इसी घटना का प्रतीक है। समुद्र-मंथन के विभिन्न प्रतीकों के प्रतीकेय सांस्कृतिक दृष्टि से इस प्रकार हैं—

वासुकि - नाग जाति; गरुड़ - गरुड़ जाति; चौदह रत्न - स्वर्ण की खानों को खोदने पर प्राप्त अमूल्य संपत्ति।

2. मोहिनी से अमृत का बँटवारा: समुद्र में प्राप्त अमृत को राक्षसों ने देवताओं से छीन लिया। इससे देवता डर गये कि राक्षस अमृत पीकर अमर होंगे। तब उनके नेता हरि ने एक उपाय सोचा। उन्होंने मोहिनी का रूप धारण किया। राक्षस उस पर मुग्ध हुए। उन्होंने मोहिनी को अपने झगड़े मिटाने के लिए मध्यवर्ती बनाया। मोहिनी ने देवता एवं राक्षसों में अमृत को बाँट देने की सूचना दी। राक्षस मान गए। तब मोहिनी राक्षस और देवताओं को अलग पंक्तियों में बिठाकर राक्षसों को सुरा और देवताओं को अमृत पिलाने लगी। मोहिनी के इस छल को समझकर राहुकेतु नामक राक्षस देवताओं की पंक्ति में जा बैठा। उसके अमृत पी लेने पर सूर्य तथा चन्द्रमा के द्वारा इस तत्त्व को जानकर मोहिनी रूपधारी हरि ने अपने सुदर्शन चक्र से उसका सिर काट डाला। अमृत पी जाने के कारण वह राक्षस एक से दो होकर राहु और केतु के रूप में जीवित रहने लगा।[1]

[1] सा०, 435-36

मोहिनी की प्रतीकात्मकता: विष्णु का मोहिनी रूप ब्रह्म के माया रूप का प्रतीक जैसा लगता है। जिस प्रकार ब्रह्म की शक्ति-माया उसके ही अंश जीव को मूल रूप ब्रह्म से अलग करके उसे भटकारती है, उसी प्रकार विष्णु ने मोहिनी रूप में असुरों को उनके प्राप्य अमृत से अलग करके उन्हें सुरा के मद में भटकाया। इसी मोहिनी रूप ने बड़े-बड़े ज्ञानियों को भी विजय किया। शंकर जैसे योगी भी इसके प्रभाव से बच नहीं सके।[1] इस प्रकार मोहिनी शक्ति-माया की प्रतीक है।

3. वराहावतार

सूरदास के अनुसार वराहावतार की कथा यों है— हरिण्याक्ष दिति के पुत्र था। उसके तेज-प्रताप से देवता भी भयभीत हुए। एक बार हरिण्याक्ष ने पृथ्वी को ले जाकर पाताल में रखा। तब ब्रह्मा की प्रार्थना पर विष्णु ने वराहावतार धारण किया और पृथ्वी को पाताल से बाहर निकाला। हरिण्याक्ष ने पीछे से उन पर गदा से आक्रमण किया। विष्णु भी उससे गदा-युद्ध करने लगे। किन्तु हरण्याक्ष पराजित नहीं हुआ। अन्त में विष्णु ने बड़ी कठिनाई से उसे ललकार कर मार डाला।[2]

सूरसागर की यह कथा तैत्तरीय संहिता और महाभारत की कथाओं से भिन्न है। तैत्तरीय संहिता की कथा इस प्रकार चलती है— "पहले विश्व में पानी था। प्रजापति ने पवन होकर उसे हिलाया। बाद में वराह रूप धारण कर प्रजापति उसे ऊपर लाये। फिर विश्वकर्मा होकर उन्होंने उसके पानी को सुखा दिया। तब विश्व विस्तृत होकर पृथ्वी कहलाया।"[3] महाभारत में इस अवतार का वर्णन और ही भिन्न रूप में मिलता है—"एक बार लोगों को आधार प्रस्तुत करनेवाली तथा नाना प्रकार के अनाज को उत्पन्न करनेवाली इस पृथ्वी की जनसंख्या इतनी अधिक हुई कि वह बोझ के कारण पानी में डूब गई। तब विष्णु ने वराह होकर उसे उठाया।"[4]

प्रतीक विवेचन

अ) सांस्कृतिक दृष्टि से : ग्रेट डेजर्ट की स्वर्ण खानों का स्वर्ण पाकर एक दैत्य हिरण्याक्ष बन गया। उसने उस सम्पत्ति के बल पर बेबिलोन और उसके

[1] पाट सुधि मोहिनी की सदासिव चले, जाइ भगवान सों कहि सुनाई। सा०, 437

[2] सा०, 392

[3] तैत्तरीय संहिता, 7-1-5-1

[4] द्रष्टव्य, Aspects of Early Visnuism, J. Gonda, पृ० 139-40

आसपास के प्रदेश को अपने अधीन कर लिया। वह देवताओं को भी आतंकित करने लगा। तब देवताओं ने बलवान तथा समुद्र को पार करने में बड़े निपुण कोला-वराह संधियों की सहायता लेकर उसे मार डाला।[1]

इस सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वराहावतार एक सांस्कृतिक प्रतीक है जिसके अनुसार हिरण्याक्ष दैत्यों का प्रतिनिधि पुराण प्रतीक है जो स्वर्ण की खानें पाकर बलवान हो गया था। वराह केतुमाल द्वीप के कोलवराह वंशियों का नेता प्रतीक है। विष्णु समस्त देवताओं के प्रतिनिधि पुराण प्रतीक हैं।

आ) सृष्टि विकास की दृष्टि से : नृतत्व विज्ञान के अनुसार स्तनपायी प्राणियों के युग में वराह प्रमुख था। वह सूखी जमीन पर रहने लग गया था, यद्यपि जल के प्रति उसका ममत्व घटा नहीं था। कठोर होने के कारण वराह अस्तित्व के संघर्ष में टिक सका था। अतएव वराह स्तनपायी युग का प्रतिनिधि पुराण प्रतीक माना जा सकता है। वराह तथा हिरण्याक्ष का युद्ध वराह तथा स्तनपायी प्राणियों के युग में वर्तमान कुछ शक्तियों के बीच के संघर्ष का प्रतीक है।[2]

इ) वैज्ञानिक दृष्टि से : इस दृष्टि से हिरण्याक्ष उस आवरण-शक्ति का प्रतीक माना जा सकता है जो अखंड विश्व के घनपिंड को परिधि से वहनकर एक केंद्र की ओर सिकोड़ती है क्योंकि उसने पृथ्वी को ले जाकर पाताल मे रखा था।[3]

4. नृसिंहावतार

सूर से वर्णित नृसिंहावतार के मुख्य प्रतीक तीन हैं—

1. नृसिंह 2. हिरण्यकशिपु और 3. प्रह्लाद। उनकी प्रतीकात्मकता इस प्रकार है—

1. **नृसिंह :** नृसिंह मे पशु-मानव की युग्म प्रवृत्ति मिलती है। उनमें पशुओं के ये लक्षण है—क) रूप सिंह जैसा भयंकर है। ख) व्यापार पशुओं के है। हिरण्यकशिपु के पेट को नखों से चीर डालते है। किन्तु वे मनुष्यों की भाँति पराक्रम रखते है। उनकी यह युग्म-प्रवृत्ति हिरण्यकशिपु को न दिन में, न रात में

[1] द्रष्टव्य, वयं रक्षामः, पृ॰ 44

[2] द्रष्टव्य, मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, डॉ॰ कपिलदेव पाडेय, पृ॰ 671–72

[3] द्रष्टव्य, The Puranas in the light of Modern Science, पृ॰ 227

बल्कि संध्या में और न घर में, न बाहर अपितु चौखट पर मारने में भी लक्षित होती है। नृसिंह (नर+सिंह) का नाम भी इसी युग्म-प्रवृत्ति की ओर संकेत करता है। एतदर्थ हम नृसिंह को सृष्टि-विकास की दृष्टि से पशु-मानव मिश्रित पुराण-प्रतीक मान सकते हैं।[1]

शब्दार्थ की अन्य व्याख्या के अनुसार नृ (पथ-प्रदर्शक) सिंह (हिंसक) को उस शक्ति का प्रतीक मान सकते हैं जो बुराई का नाश करके सन्मार्ग का विस्तार करती है या हिंसा प्रवृत्ति को सात्विक प्रवृत्ति की ओर प्रवृत्त करती है।[2]

सांस्कृतिक इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि कश्यप सागर के उत्तरी तुर्किस्तान से फ़ारस की खाड़ी तक नृग वंश के लोग फैले हुए थे। उनकी उपाधि देवपुत्र थी। आगे चलकर वे नृसिंहदेव के नाम से विख्यात हुए। नृसिंह के सैन्य संचालन के शिलाचित्र और शिलालेख लुलवी और बैबिलोनिया प्रांत में मिले हैं। इस नृसिंहदेव ने हिरण्यकशिपु को मारा था।[3] इस सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के आधार पर हम नृसिंहावतार के नृसिंह को नृगवंश के प्रतिनिधि पुराण-प्रतीक मान सकते हैं।

2. **हिरण्यकशिपु :** हिरण्यकशिपु के शासन में लोग अत्यंत पीडित थे। देवता भी उससे डर गये थे। कोई भी हरि का स्मरण नहीं कर सकता था। हरि-नाम-स्मरण के कारण मात्र से उसके पुत्र प्रह्लाद कड़े दंड का शिकार हुआ। वह आग में गिरवाया गया : हाथी के पैरों कुचलवाया गया : पर्वत से ढकेल दिया गया। हिरण्यकशिपु के इन क्रूर व्यवहारों के आधार पर हम भागवतकार के शब्दों में उसे तीन लोकों की सिर-पीडा का प्रतीक मान सकते हैं।[4]

हिरण्यकशिपु विज्ञान के नये आलोक में उस विक्षेप-शक्ति का प्रतीक है जो केंद्र से प्रारम्भ होकर परिधि की ओर व्याप्त होने लगती है और आनंद का नियंत्रण करना चाहती है।[5] हिरण्यकशिपु का शाब्दिक अर्थ 'सोने के कपड़े की भाँति व्याप्त होनेवाला' भी इस प्रतीकात्मकता की पुष्टि में है।

[1] द्रष्टव्य, मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० 673

[2] द्रष्टव्य, The Puranas in the light of Modern Science, पृ० 229

[3] द्रष्टव्य, वयं रक्षामः, पृ० 44

[4] श्रीमद्भागवत, 7-8-35

[5] द्रष्टव्य, The Puranas in the light of Modern Science, पृ० 227

सांस्कृतिक इतिहास वताता है कि हिरण्यकशिपु उस हिरण्याक्ष के भाई थे जिसने ग्रेट डेजर्ट मे स्वर्ण की खानों का पता लगाया था। उसने अपने भाई के वध से दुखी होकर देवताओं पर आतंक मचाया : अनेक देवलोकों को विजित किया : संपूर्ण उत्तर-पश्चिम के फ़ारस और समूचे अफ़गानिस्तान को अपने अधीन कर लिया। इस दृष्टि से देखने पर नृसिंहावतार का हिरण्यकशिपु वराहावतार के हिरण्याक्ष के भाई ही था जिसके ऐतिहासिक अस्तित्व का संकेत मिला है।[1]

3. **प्रह्लाद :** प्रह्लाद वड़े हरि-भक्त थे। वे जीवन के संवंधों को निस्सार मानते थे। वे सज्जन-सांगत्य के द्वारा हरि-भक्ति पाना चाहते थे। वे भक्ति में आह्लाद का अनुभव करते थे। आह्लाद में स्थित होने के कारण ही वे हिरण्यकशिपु के सब अत्याचारों से वच गये।[2] अतएव प्रह्लाद को आह्लाद में स्थित जीवसत्ता के प्रतीक के रूप में समझ सकते है।

5. वामनावतार

इस अवतार के दो मुख्य प्रतीक हैं– 1. वामन और 2. वलि। उनकी प्रतीकात्मकता इस प्रकार है–

1. **वामन :** वामन शरीर से छोटे[3] और बुद्धि से विराट मानव है[4]। उनमें होमो-सेपियन्स तथा एन्थ्रोपोआएड युगों के संधिकाल की शारीरिक और मानसिक अवस्था का परिचय मिलता है। एन्थ्रोपोआएड युग में मानव-सम प्राणियों का अस्तित्व रहा हो तो होमो-सेपियन्स युग में अत्यन्त मेधावी लोगों का। अतएव वामन एन्थ्रोपोआएड युग और होमो सेपियन्स युग के संधिकाल के पुराण प्रतीक हैं।

जव वलि दान देने के लिए तैयार हुए तव वामन ने तीनों पैरों में तीन लोक नाप लिये और शेष आध पैर को उनकी पीठ से नापकर उन्हें पाताल भेज दिया।

[1] द्रष्टव्य, वय रक्षाम, पृ० 43–44

[2] असुरनि गिरि तैं दियौ गिराइ । राखि लियौ तहं त्रिभुवनराइ ।

* * *

हरि जू तहँ हूँ करी सहाइ । नाग रहे सिर नीचैं नाइ । सा०, 429

[3] सूर स्याम वावन-वपु धर्‌यौ ॥ वही, 439

[4] अ) चारौ वेद पढ़त मुख आगर, अति सुकंठ-सुर-गावन । वही, 440

आ) अपद–दुपद–पसु भाषा बूझत —— । वही, 441

इस घटना के आधार पर वामन को मानव-विकास की उस अवस्था के प्रतीक मान सकते हैं[1] जहाँ मनुष्य शारीरिक विकास की दृष्टि से किंचित् अपरिपुष्ट होकर भी क्षेत्रीय आधिपत्य के निमित्त सचेष्ट होने लगा था।

वामन बाल-अभिप्राय के प्रतीक भी हैं[2] क्योंकि उनमें बाल अभिप्राय के दोनों तत्त्व—असहायावस्था, महत्तर शक्तियों की उपलब्धि—मिलते हैं।

2. बलि : बलि आत्माभिमानी दानी थे। इसलिए वे कभी भी अपनी बात से टलते नहीं थे। अपने गुरु शुक्राचार्य के मना करने पर भी उन्होंने वामन को दान दिया।[3] इससे स्पष्ट है कि बलि त्यागी अंह के प्रतीक हैं।[4]

6. परशुराम अवतार

सूर से वर्णित परशुराम अवतार के मुख्य प्रतीकों का अध्ययन नीचे किया गया है—

1. परशुराम : शब्दार्थ के आधार पर परशु (कुल्हाड़ी) राम (रमण करने वाला) को उस खिलाडी के प्रतीक मान सकते हैं जो कामोन्माद के बहाव एवं मानसिक आवेगों के तूफ़ान में रहते समय अपने अंतर्गत रहनेवाली काम भावनाओं पर परसु रखकर उनके प्रति विराग की भावना को उत्पन्न करता है ताकि आत्मा की उन्नति हो सके।[5]

परशुराम द्विज थे।[6] किन्तु उनमें क्षत्रिय का वीरोचित साहस था। इसलिए पिता के एक क्षत्रिय द्वारा मारे जाने पर उन्होंने पृथ्वी को इक्कीस बार क्षत्रिय-विहीन कर डाला। इस प्रकार परशुराम में ब्राह्मण के साथ-साथ क्षत्रिय तत्त्वों, का समावेश है। अतएव परशुराम को उस प्रतीक के रूप में समझ सकते हैं जिसमें बुद्धि और पराक्रम का समुचित संयोग हो।

मानव-सभ्यता के विकास की दृष्टि से परशुराम शिकारी मानव युग तथा पशु-मानव-युग के संधि-काल का प्रतिनिधित्व करनेवाले पुराण प्रतीक हैं।[7] वे

[1] द्रष्टव्य, मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, डॉ० कपिलदेव पांडेय, पृ० 677
[2] मध्ययुगीन हिंदी साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन, डॉ० सत्यद्र, पृ०393
[3] सा०, 441
[4] The Puranas in the light of Modern Science, पृ० 233
[5] वही, पृ० 235
[6] तुम तौ द्विज - - - -। सा०, 472
[7] द्रष्टव्य, मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० 681

शिकारी मानव युग के लोगों की भाँति जंगल में रहते थे[1] और पशु-पालन-युग की प्रकृति के अनुसार उनके घर में कामधेनु[2] का पालन-पोषण होता था।

परशुराम के दो आयुध थे—1. कुल्हाड़ी और 2. धनुष। उन्होंने कुल्हाड़ी से अनेक क्षत्रियों को मार डाला; श्रीराम की परीक्षा लेते समय धनुष चढ़ाने को कहा। पाषाणयुग का शिकारी मानव भी डंडे से आगे बढ़कर कुल्हाड़ी जैसे मारने और लकड़ी काटनेवाले आयुध तथा बाद में तीर-धनुष का प्रयोग करने लग गया था। अतएव आयुध की दृष्टि से परशुराम पाषाणयुग के शिकारी प्रतिनिधि प्रतीक है।

2. सहस्रबाहु : सहस्रबाहु विशिष्ट अहं का प्रतीक है। अहं के कारण ही वह जमदग्नि की कामधेनु छीनकर ले गया। 'उनके हजार हाथ काम रूपी सर्प के अनेक हाथों के प्रतीक हैं'[3]। परशुराम ने सहस्रबाहु को मार डाला। इन दोनों का युद्ध संधि-पाषाण-युग (Mesolithic Period) की सभ्यता में चलनेवाले व्यक्तिगत - वन्य पराक्रम (Savage Force) और सहस्रबाहु के रूप में संगठित कुल—पराक्रम (Clan Force) के परस्पर संघर्ष का प्रतीक है।[4]

3. कामधेनु : कामधेनु उस काल्पनिक गाय की प्रतीक है जो अभीप्सित वस्तुओं को देती है। 'मानव-सभ्यता के विकास की दृष्टि से यह पशु-पालन-युग का प्रतिनिधित्व करनेवाले विशिष्ट पशु की पुराण प्रतीक है'।[5]

7. राम अवतार

राम कथा बहुत व्यापक है और इसीकारण उसके रूप भी अनेक हैं। किन्तु सबमें ये मुख्य घटनायें हैं–1. सीता का अपहरण, 2. राम-रावण-युद्ध, 3. रावण का मरण और 4. राम को सीता की पुनः प्राप्ति। नीचे राम-कथा की प्रतीकात्मक व्याख्या अनेक दृष्टियों से की गयी है।

[1] अ) परसुराम वन गए, तहाँ दिन बहुत लगाए सा०, 458
आ) सूरदास प्रभु रूप सुझि, वन परसुराम पग धार्यौ। वही, 472

[2] कामधेनु जमदग्नि की - - -। वही, 458

[3] The Puranas in the light of Modern Science, पृ० 235

[4] मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० 658

[5] वही, पृ० 681

1. पौराणिक दृष्टि से : वेदों में इंद्र और वृत्र का आख्यान है जिसके अनुसार इंद्र ने वृत्र को मारकर पर्वतों में रोके गये पानी को प्रवाहित करके पृथ्वी को सिंचित किया था। इस आख्यान को लेकर पुराणों में अनेक अवतारों की अवतारणा हुई है। अतएव रामावतार के संदर्भ में इस आख्यान को इस प्रकार घटाया जा सकता है—राम अथवा इंद्र अपनी पत्नी सीता (पृथ्वी की प्रतीक) की उर्वरा-शक्ति को कुंठित करनेवाले वृत्र अर्थात् रावण का नाश करते हैं। अतएव यहाँ राम इंद्र के, रावण वृत्र का और सीता संघर्ष के कारण की प्रतीक है।

2. सांस्कृतिक दृष्टि से : रावण रक्ष-संस्कृति[1] का संस्थापक था। वह अन्य संस्कृतियों से संघर्ष करने को उतावला था। उसने अपने सांस्कृतिक संघटन-बल से दनुज, दैत्य, नाग, यक्ष, असुर—इन सभी संस्कृतियों को जीतकर उनके माननेवालों को अपनी संस्कृति में दीक्षित किया था। जिन संस्कृतियों को अपने ऊपर अनुमान था, उनसे रावण ने 'युद्धं देहि' आयुध के द्वारा युद्ध के लिए आवाहन करके उन्हें परास्त किया और रक्ष-संस्कृति के अनुयायियों को 'वयं रक्षामः' का आश्वासन दिया।

राम आर्य संस्कृति के और सीता आर्य संस्कृति के मूर्त रूप की प्रतीक है। रावण ने सीता का अपहरण किया। आर्यों में स्त्री का अपमान संस्कृति का अपमान समझा जाता था। फलतः युद्ध हुआ जिसमें रावण ही नहीं, उसकी संस्कृति का भी नाश हो गया। विभीषण जो रावण के बाद लंका का राजा हुआ, वह राम का भक्त (आर्य संस्कृति का अनुयायी) बनकर ही हुआ। अतः राम कथा को दो संस्कृतियों के संघर्ष की कथा भी कहा जा सकता है।

3. आध्यात्मिक दृष्टि से : मानव-मन में अच्छे और बुरे का संघर्ष शाश्वत है। यही सत और असत, हिंसा और अहिंसा, पाप और पुण्य, मोह और विवेक आदि विभिन्न रूपों में संघर्षरत दिखायी पड़ता है। इनके पारस्परिक संघर्ष को ही राम-रावण-युद्ध कह सकते है।

मोह और विवेक के संघर्ष को लेकर संस्कृत (प्रबोध चंद्रोदय) तथा हिन्दी (विज्ञानगीता) में अनेक ग्रंथों की रचना हुई है। विवेक और मोह का संघर्ष शांति अथवा भूसंपत्ति रूपा सीता के लिए ही होता है। शांति अथवा भूसंपत्ति विवेक से ही प्राप्त हो सकती है और वह भी मोह के दमन के पश्चात। इस रूप में रावण महामोह

[1] द्रष्टव्य, वयं रक्षामः, आचार्य चतुरसेन शास्त्री

का प्रतीक है। उसके दसमुख उसके मोह रूप के दश दिशाओं में विकास के प्रतीक है। सपूर्ण पृथ्वी इसी महामोह रूपी रावण के वश में है। सभी त्रस्त और दुखी है। राम का अवतार इसी महामोह के नाश के लिए होता है। कुप्रवृत्ति रूपी लंका-दुर्ग का अधिपति महामोह रूपी रावण जिस समय शाँति अथवा आस्तिकता रूपिणी सीता को अपनी वशवर्तिनी बना लेना चाहता है, उसी समय राम-रावण-युद्ध की भूमिका बन जाती है।

साधक का हृदय राम-रावण-युद्ध (भगवान और शैतान की लड़ाई–भगवत् कृपा और अविद्या का सघर्ष) का समर-क्षेत्र ही बना रहता है। मनुष्य के हृदय का अहकार जब तक समाप्त न होगा तब तक परम कल्याण हो ही नही सकता।

राम-कथा के सपूर्ण स्वरूप मे ये प्रतीकात्मकताएँ चाहे अपने पूर्ण रूप मे स्पष्ट न हो सके, लेकिन अधिकांश पात्रों के सदर्भ में इन प्रतीको की संगति बिठायी जा सकती है। राम, सीता और रावण के अतिरिक्त राम-कथा के अन्य पात्रो की प्रतीकात्मकता का नीचे वर्णन किया जा रहा है—

दशरथ : दश इंद्रियो के संघात रूप भौतिक शरीर के शासक के प्रतीक है।[1]

कौशल्या : सौभाग्य की प्रतीक है।[2]

सुमित्रा : जो सबका मित्र हो, उसकी प्रतीक सुमित्रा है।

कैकेयी : निम्नचेतना की प्रतीक हे।[3]

लक्ष्मण : विष्णु के शेष को लक्ष्मण के रूप मे अवतरित होना माना जाता है। 'शेष काल का प्रतीक हे'।[4] एतदर्थ लक्ष्मण भी काल का प्रतीक है। लक्ष्मण श्रीरामचन्द्र के आज्ञाकारी भाई है। अतः वह परमतत्त्व के विधि-वाक्य का प्रतीक भी है।[5]

शत्रुघ्न : शत्रुघ्न विष्णु के शख का अवतार कहा जाता है। शंख शब्द को उत्पन्न करता हे। शब्द आकाशतत्त्व का प्रतीक है। आकाशतत्त्व एक पदार्थ है। अतएव शत्रुघ्न पदार्थ का प्रतीक है।

भरत : लौकिक रूप मे भरत मानवीय प्रेम एवं श्रद्धा का प्रतीक है। आध्यात्मिक क्षेत्र मे वह मन का प्रतीक है। मन चंचल होता है। भरत विष्णु के

[1–4] The Puranas in the light of Modern Science, पृ० 239

[5] हिंदी काव्य मे प्रतीकवाद का विकास, डॉ० वीरेंद्र सिंह, पृ० 732

जिस चक्र का अवतार है, वह भी चंचल है।

हनुमान : हनुमान लौकिक रूप में श्रीराम के अनन्य भक्त के प्रतीक है। आध्यात्मिक क्षेत्र मे वे 'पवन' के प्रतीक हैं।

वालि : वालि काम का प्रतीक है। इसीकारण अपने भाई की पत्नी तारा को भी अपनी महिषी बनाने में वह संकोच नहीं करता।

सुग्रीव : सुग्रीव ज्ञान का प्रतीक है।

कुम्भकर्ण : कुम्भकर्ण में प्रत्येक वस्तु को अपने अंदर ही सुप्तावस्था में रखने की इच्छा थी। अत: वह तामसिक मन की केन्द्रीभूत शक्ति का प्रतीक है।[1] यदि केन्द्रीय शक्ति जागती है तो अत्यन्त बलवती होती हे; किन्तु यह प्राय: निद्रमग्न रहती है। कुम्भकर्ण भी निद्रमग्न बताया गया है।

मेघनाद : मेघनाद मेघ की भाँति नाद करनेवाला था। अत: वह उस तामसिक वृत्ति के वेगवान एवं गुरु गंभीर मेघ रूप का प्रतीक था जिसके सामने 'समय' या 'ईश्वर का विधि वाक्य' रूपी लक्ष्मण को भी अस्तव्यस्त होना पड़ा था।

मारीच : मारीच उस भ्रमपूर्ण तृष्णा का प्रतीक है जिससे अनेक प्राणी मरुभूमि में अनेक यातनाओं का अनुभव करते है।

शूर्पणखा : शूर्पणखा वासनापूर्ण काम की प्रतीक है। इसी कारण वह आत्मा रूपी राम को नहीं पा सकी और ईश्वर के विधि-वाक्य रूपी लक्ष्मण के हाथों में कुरूप हुई।

8. वासुदेव अवतार

वासुदेव कृष्ण की कथा ही सूरसागर का मुख्य विषय है। इस अवतार के जो असंख्याक प्रतीक मिलते हैं, उनके सबंध मे अगले अध्यायों में विस्तार से विचार किया गया है। अतएव यहां इस अवतार-प्रतीक का विवेचन छोड़ दिया गया है।

9. बुद्ध अवतार

राक्षसों को यज्ञ करते देखकर हरि ने शबरी के वेष में अवतरित होकर उन्हें उपदेश दिया "यज्ञ में तुम पशुओं को मार रहे हो। सब जीवों को अपने समान

[1] The Puranas in the light of Modern Science, पृ० 239

समझो। जीवन की हानि मत करो। जो दया-धर्म का पालन करता है, वही मेरी दृष्टि में विजय पाता है।" बुद्ध के इस उपदेश से राक्षस यज्ञ करना छोड़कर दया तथा धर्म-मार्ग का अनुसरण करने लगे।[1] इस प्रकार बुद्ध ने अहिंसात्मक प्रवृत्ति का प्रबोध कर लोगों को परे चरम मुक्ति तक ले जाने का प्रयास किया है। 'अतएव बुद्ध उस युग की भोगात्मक प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर उन्मुख होनेवाली युग-चेतना के द्योतक पुराण प्रतीक है।'[2]

10. कल्कि अवतार

कलियुग में राजा अन्यायी होते है। वे खेती के अनाज वलपूर्वक लेते है: झूठे लोगों को अपने पास रखते हैं: सच्चे लोगों पर दोप लगाते है। वर्ण-धर्म पहचाना नही जाता। लोग घर में स्नान नहीं करते; किन्तु दूर जाकर तीर्थ--स्नान करते। घर में पूजा न कर अन्यत्र पूजा करते है। सन्यासी वेप वनाकर फिरते है। गृहस्थ अपने धर्म को नही पहचानते। वे अतिथि का सम्मान नही करते। दया, सत्य, संतोप नप्ट होते है। सुधर्म का फल जानते हुए भी कोई सुधर्म नहीं करता। लोग दिन-रात पाप करते है। वर्षा के समय वर्पा नही होती। विना अन्न के लोग दुखी होते है। लोग दान देते है तो भी यश केलिए। वे इंद्रियों के वश में होते। कोई विरले ही सौ वर्प तक जीवित रहता। जव इस प्रकार अधर्म वढ़ेगा तव विप्णु संभल के गृह मे कल्कि के रूप में अवतार लेगे। वे दुष्ट लोगों का संहार करेगे। तव सव लोग समदृप्टी होगे। वे दुष्ट भाव को मन में नही रखेगे। राम-नाम ही उनका आधार होगा।[3]

इस प्रकार हम देखते है कि कल्कि अवतार के वर्णन में भूतकालीन घटनाओं का आधार लेकर तथा वर्तमान दुरवस्थाओ का समाहार कर दोनों के कलुष या कल्क से युक्त कल्कियुग की आगमिप्यत् रूपरेखा दी गई है।[4] अतएव कल्कि तभी प्रतीक वनता है जब हम भविप्य में होनेवाले अवतार को भूत के अवतारों (राम, कृष्ण आदि) के सदर्भ में समझा और देखा जाय। इस आधार पर कल्कि ऐसे पुराण-प्रतीक समझे जा सकते है जो कलियुग की विरोधी आसुरी शक्तियों का नाश कर पृथ्वी पर भगवान् का राज्य स्थापित करेगे।

[1] सा०, 4934
[2] द्रप्टव्य, मध्यकालीन साहित्य मे अवतारवाद, पृ० 688
[3] सा०, 4935
[4] मध्यकालीन साहित्य मे अवतारवाद, पृ० 689

11. सनकादिक अवतार

ब्रह्मा ने मन से चार पुत्रों को प्रकट किया—सनक, सनंदन, सनत्कुमार तथा सनातन। उत्पन्न होते ही वे हरि का ध्यान करने लगे। ब्रह्मा ने उनसे सृष्टि-विस्तार करने के लिए कहा। किन्तु उन्होंने इस बात को हृदय में स्थान नहीं दिया। तब ब्रह्मा ने उनसे कहा— "मैं भी तुमसे यही चाहता हूँ। तुम नित्य पाँच वर्ष के बालक की तरह रहो।" ब्रह्मा का यह वर पाकर उन्होंने हरि के चरणों में चित्त लगाया।[1] इस प्रकार सनकादिक आत्मज्ञानियों के प्रतीक हैं। साथ ही वे शाश्वत बालकपन के प्रतीक हैं जो सदैव ब्रह्मा के निकट रहकर ब्रह्मानन्द लेने में समर्थ हैं।

12. व्यास अवतार

पराशर महर्षि के माँगने पर शाप-भय से सत्यवती ने रति-दान दिया। तब उसकी कोख से हरि ने व्यास रूप में अवतार लिया। उन्होंने वेदों पर विचार किया: अठारह पुराणों की रचना की: नारद द्वारा परंपरा से चार श्लोकों में प्राप्त भागवत का व्याख्यान किया।[2] व्यास जी के इस साहित्य-सर्जन के आधार पर हम उन्हें ब्रह्म-लीला-ज्ञानी का प्रतीक मान सकते हैं।

13. हंस अवतार

सनकादिक ने ब्रह्मा से प्रश्न किया— "विषय को चित्त ग्रहण करता है या चित्त को विषय"। ब्रह्मा निरुत्तर हो गये। उनके स्मरण पर हरि ने हंस[3] के रूप में वहाँ आकर उन्हें उपदेश दिया- "विषय और चित्त दोनों माया हैं। वृक्ष की छाया की भाँति दोनों जड़ हैं। वृक्ष हिलता है तो छाया भी हिलती है। जब चित्त विषय को ग्रहण करता है तो चित्त और विषय दोनों का संयोग होता है। दोनों छिपकर रहते हैं। उन्हें कोई अलग नहीं कर सकता। विषय और चित्त दोनों भ्रम हैं। आत्मरूप को सत्य समझो। प्रेम के साथ मेरे रूप का ध्यान करो"।[4]

हंसावतार की प्रतीकात्मकता उनके उपदेश के विश्लेषण पर निर्भर है।

[1] सा०, 387
[2] वही, 229-30
[3] महाभारत में उसका प्रजापति, इन्द्र, विष्णु, नारायण प्रभृति से सम्बद्ध विविध रूपों का पता चलता है।
मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० 463
[4] सा०, 4932

उनके उपदेश मे सत्य और मिथ्या का अलग-अलग निरूपण है। आत्मा या मुक्त-जीव को ही सत्य और मिथ्या अथवा सकल्प और विकल्प का विवेक रहता है। इसलिए हसावतार को आत्मा या मुक्तजीव के प्रतीक समझ सकते है।

14. नारायण अवतार

नारायण 'धर्म' तथा 'मूर्ति' के पुत्र थे। वे वदरिकाश्रम मे जाकर रहे। योगाभ्यास के लिए उन्होंने समाधि लगायी। उनकी कोई कामना नही थी। वे त्रिभुवन का सुख अपने मन में ही पाते थे। इद्र उन्हे देखकर डर गये। इसलिए उन्होंने उनकी तपस्या का भग करने कामदेव को उसकी सेना के साथ भेज दिया। वसत ऋतु पुष्पित हुआ। सुगधमय वायु मद-मंद वहने लगी। गधर्व गान करने लगे। अप्सराएँ अच्छी तरह नृत्य करने लगी। कामदेव ने पाँचो वाणो का सधान किया। किन्तु नारायण विचलित नही हुए। इसे देखकर इद्र के सब लोग डर गये और जोर से कहने लगे– "इंद्र ने हमे भेजा है"। उस समय नारायण ने आँखे खोल दी और उनसे कहा– "तुम भय रहित रहो। न तुम्हारा ही कोई दोष है और न इद्र का ही"। नारायण की इन वातो को सुनने पर वे उनकी स्तुति करने लगे। तव नारायण ने सहस्रो सुन्दर अप्सराओ को प्रकट किया। उनको देखकर कामदेव चकित हो गये। कामदेव की इच्छा जानकर नारायण ने उससे कहा– "इनमे एक सुन्दरी को लो"। कामदेव ने उर्वशी को लिया और उसे इंद्र को सौपकर सारा वृत्तांत कह सुनाया।[1]

इस वर्णन से स्पष्ट है कि नारायण स्थितप्रज्ञ, मानव मन की इच्छाओ को जानकर उनकी पूर्ति करवानेवाले, मानव जीवन के सखा और सहायक, अपनी दिव्य ज्योति तथा दिव्य शक्ति मानव को देकर उसका परमोद्धार करनेवाले है। अतएव हम नारायण को मानव-जाति मे सदा वर्तमान उस भागवत आत्मा के प्रतीक मान सकते है[2] जिसके भी उपर्युक्त गुण होते है।

15. ऋषभदेव अवतार

ऋषभदेव नाभि राजा के पुत्र थे। उन्होंने लोगो को यह उपदेश दिया— "दृश्यमान् का नाश होगा। सत्य व्यापक तथा अविनाशी है। तुम उसमे चित्त

[1] सा०, 4931

[2] द्रष्टव्य, अवतार, श्री अरविंद

लगाओ। जो उसकी सेवा करेगा, वह मुक्ति पायेगा। ज्ञानियों की संगति से ज्ञान उत्पन्न होगा। अज्ञानियों की संगति से अज्ञान बढ़ेगा। अतः सत्संग करना है। सत्संग से हरि-चरणों की सेवा करो।"

ऋषभदेव अपने पुत्र को राज्य देकर शरीर की ममता छोड़कर उन्मत्त की भाँति विचरने लगे: अन्न तथा वस्त्र की चिन्ता छोड़ दी: कोई खिलाता तो कुछ खा लेते। अन्यथा बैठे रह जाते: मूत्र-पुरीष शरीर से लिपटा रहता था: दुर्गंध दस योजन तक व्याप्त थी: अष्टसिद्धियां उनका मुंह तक नहीं देखती थीं।[1]

ऋषभदेव के ज्ञानोपदेश और व्यवहार जैन दिगम्बरों के धर्म-प्रवर्तक ऋषभदेव के ज्ञानोपदेश और व्यवहार से बहुत कुछ साम्य रखते हैं। अतएव ऋषभदेव को जैन दिगम्बरों के धर्म-प्रवर्तक के पुराण-प्रतीक मान सकते हैं।

16. नारद अवतार

सूरदास ने नारद के पूर्व-जन्म के बारे में इस प्रकार लिखा है—"एक गंधर्व ब्रह्मा की सभा में गया और वहां उपस्थित अप्सराओं की ओर देखकर हँसने लगा। ब्रह्मा को यह बुरा लगा और उन्होंने कहा—"तुमने मेरे समक्ष ही निर्लज्जता का प्रदर्शन किया है। अतः मैं शाप देता हूं कि अपनी इस निर्लज्जता के कारण तुम दासी के पुत्र हो।" इस शाप के कारण गंधर्व एक ब्राह्मण की दासी के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। ब्राह्मण के घर कुछ हरि-भक्त आए और दासी तथा उसके पुत्र ने उनकी सेवा करते हुए हरिभक्तों द्वारा की गई हरि चर्चा सुनी। दासी पुत्र गंधर्व उससे प्रभावित हुआ और उसके मन में वैराग्य उत्पन्न हुआ। वह वन जाना ही चाहता था कि मां का बंधन जो उसकी चिन्ता का कारण था, भी टूट गया। सर्प-दंश से मां की मृत्यु होने पर वन में जाकर उसने हरि-भक्ति की और बाद में ब्रह्म-पुत्र का शरीर धारण कर नारद नाम से प्रसिद्ध हुआ।[2]

नारद को एक बार संशय हुआ कि सोलह हजार आठ स्त्रियों वाले कृष्ण किस प्रकार चैन से रहते हैं जब कि दो स्त्रियां होने पर भी मनुष्य की दो दशा होती है। इसका रहस्य जानने के लिए वे कृष्ण के महल चले। हर स्त्री के महल में कृष्ण विभिन्न रूपों में भाँति-भांति की क्रीड़ायें कर रहे थे। इसे देखकर नारद भ्रमित हुए। तब कृष्ण ने उनके भ्रम को दूर करते हुए कहा कि "मैं सर्वत्र व्याप्त हूं, मैं ही सब करता हूं सब भोगता हूं"। इससे नारद का भ्रम-भंग हुआ।[3]

[1] सा०, 406
[2] वही, 427
[3] वही, 4926

संदेह के कारण नारद ऐसे ज्ञानी हो जिनका ज्ञान अपूर्ण है। कृष्ण ने अपने उपदेश से उनके संदेह को दूरकर उनके ज्ञान को पूर्णता दी। अत: नारद यहां ज्ञानी के प्रतीक हैं।

मेघनाद द्वारा राम और लक्ष्मण के नाग-पाश में बांधे जाने पर नारद उन्हे गरुड़ के द्वारा इस बंधन को छुड़ाने की मंत्रणा देते हैं। इस प्रसंग मे नारद के ज्ञान के कारण राम के संतोष का सूर ने उल्लेख किया है—

भयौ तोष दसरथ के सुत कौं, मुनि नारद कौ ज्ञान लखायौ।[1]

यहाँ नारद ज्ञानी के प्रतीक हैं जो राम के ब्रह्मवाले रूप को जानते हुए इस तथ्य से परिचित हैं कि इस समय ये नर-लीला कह रहे हैं। अत: वे स्वत: अपने बंधनो से मुक्त न होकर सामान्य व्यक्ति के समान गरुड़ की सहायता से ही मुक्त होंगे।

लौकिक रूप मे नारद कटपटी, उत्पाती अथवा परस्पर लड़ाई करवानेवाले का प्रतीक माना जाता रहा है। ऐसे स्वभाव वाले व्यक्ति को सामान्यत: नारद ही कहा जाता है। सूरदास ने दो प्रसंगों मे उनके इस रूप की ओर भी संकेत किया है—

क) देवकी के प्रथम पुत्र को कंस ने देखकर जब लौटा दिया तो नारद ने उनके इस कार्य को लड़कपन बताया और समझाते हुए कहा कि क्या विश्वास तुम्हारा मारने वाला आठवी बार ही उत्पन्न होगा, अबका भी हो सकता है। इन बातों से प्रेरणा पाकर कंस ने उस बच्चे को मार डाला। इसी प्रकार भविष्य मे उसने देवकी के अन्य बच्चों को भी मार दिया।[2] इस प्रकार नारद की बातें कंस को दुष्कर्म करने की प्रेरणा देती हैं। इसी से कृष्ण से उसके मारे जाने की पृष्ठभूमि तैयार होती है।

ख) दूसरे प्रसग मे नारद कंस को यह सलाह देते हैं कि तुम नंद से कालीदह पुष्प मगाओ।[3] इसके पीछे उद्देश्य यह रहा है कि नंद के लिए कमल लाने के लिए कृष्ण जैसे ही कालीदह पहुँचेगा वहाँ कालिय द्वारा मारा जायेगा। इस प्रसंग मे भी नारद का वही रूप दिखाई पड़ता है, जिसके द्वारा वह एक पक्ष को बहकाकर उसे गलत काम करने को प्रेरित करता है।

इस प्रकार उपर्युक्त दोनों प्रसगो मे नारद कलह अथवा संघर्ष करानेवाले के प्रतीक हैं।

[1] सा०, 585
[2] वही, 622
[3] वही, 1207

17. दत्तात्रेय अवतार

अत्रि नामक ऋषि की तपस्या से प्रसन्न त्रिदेवों ने उनसे कोई वर माँगने के लिए कहा। अत्रि ने ज्ञानवान पुत्रों को माँगा। विष्णु अंश ने दत्तात्रेय, रुद्र-अंश ने दुर्वासा और ब्रह्म अंश ने चन्द्रमा का रूप धारण किया।[1]

दत्तात्रेय ने एक संप्रदाय का प्रचलन किया है। 'सम्प्रदाय-प्रवर्तन ही इस अवतार का मुख्य प्रयोजन है।'[4] अतः दत्तात्रेय एक सम्प्रदाय-प्रवर्तक के पुराण-प्रतीक हैं।

18. पृथु अवतार

वेनु नामक राजा ने ऋषियों से यज्ञों में अपने लिए भी आहुति माँगी। क्रुद्ध ऋषियों ने उसे मार डाला। राजा के न होने से अव्यवस्था हुई। ऋषियों ने वेणु की जाँघ और दाहिने भुज का मंथन किया तो लक्ष्मी सहित पृथु प्रकट हुए। उस समय पृथ्वी लोगों की आजीविका के लिए अयोग्य थी। औषधियाँ नष्ट हो गई थीं। पर्वतों ने पृथ्वी को घेर लिया था। पृथु ने पर्वतों को धनुष से एक तरफ ठेलकर पृथ्वी को समतल बनाकर लोगों को बसा दिया। सब लोग पृथ्वी को दोहने लगे और इससे उन्हें जीविका मिली।[3]

इस प्रकार पृथु कृषि और खनिज के प्रथम अन्वेषक मालूम पड़ते हैं। अतएव पृथु को उस युग के प्रवर्तक पुराण प्रतीक मान सकते हैं जिस युग में कृषि का आरम्भ और खनिजों का अन्वेषण होने लगा था।[4]

19. यज्ञपुरुष अवतार

सूर के इस अवतार-वर्णन में तीन मुख्य प्रतीक हैं— 1. दक्ष 2. यज्ञपुरुष और 3. वीरभद्र। उनकी प्रतीकात्मकता इस प्रकार समझी जा सकती है—

1. दक्ष: दक्ष प्रजापति था।[5] वह सदा यज्ञ करता था। इसलिए वह उपा-

1 सा०, 397
2 द्रष्टव्य, मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० 484
3 सा०, 405
4 द्रष्टव्य, मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० 456
5 दच्छ प्रजापति हुते तहँ आए। सा०, 399

सना का प्रतीक है।[1] इसी आधार पर अरविंद ने उसे विचारशील चिंतनशक्ति का प्रतीक माना है।

2. यज्ञपुरुष: यज्ञ कुंड में भृगु ऋषि ने जब आहुति डाली तब यज्ञपुरुष प्रकट हुए। उन्होंने शिव-गणों को मार डाला।[2] वे यज्ञ के अभिधेय रूप के प्रतीक हैं[3] जो कि प्रारंभिक वैदिक युग में प्रमुख स्थान रखते थे।

3. वीरभद्र : यज्ञपुरुष से मार खाए हुए गणों ने शिवजी के पास जाकर आर्तनाद किया। शिवजी ने एक जटा उखाड़ ली तो भारी बलवाले वीरभद्र उत्पन्न हुए। वीरभद्र ने यज्ञ को नष्ट किया : दक्ष को मार दिया : भृगु महर्षि के केशों को उखाड़ डाला : बहुतों के हाथ-पांव काट डाले।[4]

वीरभद्र के इन कृत्यों के आधार पर हम उन्हें उस तूफान के प्रतीक मान सकते है जिससे सब कुछ का विनाश होता है।[5]

20. कपिलदेव अवतार

सूर ने कपिलदेव अवतार का वर्णन इस प्रकार किया है[6]– कर्दम तथा उनकी पत्नी देवहूति की तपस्या से प्रसन्न हरि ने उनके पुत्र के रूप में जन्म लिया। वे कपिलदेव के नाम से प्रसिद्ध हुए।

कपिलदेव ने तपस्या के लिए निकले हुए पिता को उपदेश दिया– "मुझे अभिन्न तथा अछेद समझो। मैं सब शरीरो में एक समान रहूँगा। मिथ्या शरीर के मोह को भूल जाओ। गृह–चिंता से इंद्रियां प्रेरित होती हैं। 'मैं' स्वरूप को समझ

[1] Daksha also signifies worship.
Encyclopedia of Religions, पृ॰503

[2] सा॰, 399

[3] मध्यकालीन साहित्य मे अवतारवाद, पृ॰469

[4] सा॰, 399

[5] Veerabhadra—Personification of darkness and violent storm. Dictionary of Mythology, Folklore and Symbols, Gertrude Jobes, पृ॰ 1652

[6] सा॰, 394

तो। जब 'मैं' रूप देह को छोड़कर चला जाता है तब इंद्रियों की आसक्ति नष्ट हो जाती है। जो इस बात को जानकर परमात्मा में लीन होता है देहाभिमान उसे नहीं जलाता। जिस व्यक्ति का देहाभिमान नष्ट होता है वह सदा सुख पाता है। जो इसे नहीं जानता उसे मृत्यु का भय लगा रहता।"

देवहूति ने अपने पुत्र से पूछा—"हे प्रभु मेरे अज्ञान को जलाओ। आत्म-ज्ञान को समझाओ जिससे जन्म-मरण का दुःख जाता हो।" तब कपिलदेव ने उसे वह ज्ञान दिया जिससे नर मुक्त होते हैं।

इस प्रकार सूर ने सांख्यवेत्ता कपिलदेव का वर्णन किया है, यद्यपि अनेक कपिल[1] नामक व्यक्ति हैं। तुलसी ने भी कपिल[2] को सांख्य शास्त्र का प्रणेता ही कहा है। अतएव हम कपिलदेव को सांख्य-दर्शन के प्रतिनिधि प्रतीक मान सकते हैं।

21. ध्रुव अवतार

विमाता सुरुचि की कटु बातों[3] से उत्पन्न हीनता-ग्रंथि के शमन के लिए माता सुनीति की सलाह पर ध्रुव हरि-ध्यान करने का दृढ़ संकल्प कर वन को निकला।

रास्ते में नारद से ध्रुव की भेंट हुई। ध्रुव की परीक्षा लेने नारद ने उससे कहा—'तुम तपस्या के योग्य नहीं हो। बड़े-बड़े तपस्वी भी तपस्या करते-करते व्याकुल हो गये हैं। आओ मैं तुम्हें राजा के पास ले जाऊंगा। राजा तुम्हें वन और गांव देंगे। मैं हरिभक्त हूं।" ध्रुव ने उनसे कहा— "तुम नारायण भक्त होते हुए भी मुझे भ्रम में क्यों डाल रहे हो।" ध्रुव को हरि-भक्ति में दृढ़ पाकर नारद ने ध्रुव से मथुरा जाकर हरि-स्मरण करने की सलाह दी। ध्रुव ने वैसे ही किया। उसकी भक्ति से प्रसन्न नारायण ने उसे वर दिया—

[1] सगर पुत्रों के भस्मकर्ता ऋषि का नाम भी कपिलदेव है।

[2] सांख्य शास्त्र जिन्ह प्रगट बखाना। तत्व बिचार निपुन भगवाना।
मानस, 1-7-142

[3] जो हरि की सुमिरन करनौ
बैठे गई आनि अकरनौ।
राजा तोकौं लेहै गोद। सा०, 403

अरु तेरे हित कियौ अस्थान। देहि प्रदच्छिन जहँ ससि-भान।
ग्रह नछत्रहू सबही फिरैं। तू भयौ अटल, न कबहूँ टरै।
अरु पुनि महा-प्रलय जब होई। मुक्ति-स्थान पाइहै सोइ।[1]

इस प्रकार ध्रुव दृढ़ता, अचलता और निश्चय का पुराण-प्रतीक है और अब भी यह शब्द इसी प्रतीकात्मकता को स्पष्ट करता।

ओ) अवतार-प्रतीकों की विशेषतायें: उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम अवतार-प्रतीकों की कुछ सामान्य विशेषताओं[2] का उल्लेख कर सकते हैं—

1. अवतार-प्रतीक केवल मानसिक या कलात्मक प्रतीक न होकर 'मनोजैविक' प्रतीक हैं। अवतार के रूप में ब्रह्म को साधारण प्राणियों की भांति प्रजनन सम्बन्धी जीवात्मक क्रियाओं से गुजरना पड़ता है।

2. अवतार-प्रतीक प्रातिभ-ज्ञान की अपेक्षा विश्वास की देन हैं। ऋषभदेव जैसे धर्म प्रवर्तकों, पृथु जैसे युगप्रवर्तकों आदि को विष्णु के अवतारों में जो स्थान मिला है, उसके मूल मे लोगों का विश्वास ही काम कर रहा है।

3. अवतार-प्रतीक युग विशेष की आवश्यकताओ, विवशताओं, रुदन-क्रंदन तथा हर्षोल्लास के द्योतक है। यथा—मत्स्य जगत् के विस्तार का; कूर्म जगत् की रक्षा का, वराह पशुओ के पारस्परिक संघर्ष का और नृसिंह पशु-मानव-शक्ति का प्रतीक है।

4. पौराणिक अपने देश, जाति या संस्कृति की रक्षा के लिए जिस अदृश्य शक्ति की कल्पना करते हैं और जो कभी वास्तविक रूप मे व्यक्त नहीं हो पाती है, वही विस्थापित होकर अवतार-प्रतीको मे अभिव्यक्त होती है। इस प्रकार अवतार प्रतीक पौराणिको की रक्षात्मक कल्पनाओं के प्रतीक हैं।

[1] सा०, 403

[2] द्रष्टव्य, मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० 719–720

4 लीला प्रतीक

1. कृष्ण-लीला का स्वरूप और व्याख्या

वल्लभाचार्य जी ने अपने शुद्धाद्वैतवाद और पुष्टि-मार्गी भक्ति-सिद्धांतों के आधार पर श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कंध की सुबोधिनी टीका में परब्रह्म कृष्ण की लीला की व्याख्या प्रस्तुत की है। उनके अनुसार विलास की इच्छा का ही नाम लीला है। यह कार्य से रहित कृति मात्र है। इस कृति के बाहर कोई कार्य उत्पन्न नहीं होता। उत्पन्न किए गए कार्य में कोई अभिप्राय नहीं होता। इसमें कर्त्ता का कोई प्रभाव उत्पन्न नहीं होता। किन्तु अन्तःकरण के पूर्ण आनन्दपूर्ण उल्लास से कार्योत्पत्ति के सदृश कोई क्रिया उत्पन्न होती है। यही कृष्ण की लीला है। लीला का एकमात्र प्रयोजन लीलानंद है। सृष्टि और प्रलय भी भगवान् की लीलायें हैं।

परब्रह्म कृष्ण गोलोक में नित्य एक रस आनन्द में मग्न रहते हैं। वहां नित्य बृंदावन, नित्य यमुना, नित्य गोपी और नित्य विहार का आनंद होता है। जब उन्हें एक से अनेक होने की इच्छा होती है तब समग्र चराचर सृष्टि उनके अपार रूप से प्रकट होती है। उस समय गोलोक ब्रज में पृथ्वी पर उतर आता है और कृष्ण गोपांगनाओं के साथ ब्रज की आनन्द-केलि में मग्न दिखाई देते हैं। इस प्रकार वल्लभ के अनुसार ब्रज की कृष्ण-लीलायें परब्रह्म कृष्ण की नित्य गोलोक-धाम की लीलाओं की प्रतिरूप मात्र हैं।

चैतन्य संप्रदाय के अनुसार भगवान् कृष्ण अपनी स्वरूप-शक्ति के साथ लीला में प्रवृत्त होते हैं। वे अपनी आह्लादिनी शक्ति राधा तथा उनकी सखियां गोपियों

के साथ लीला करते है। यह लीला, दर्पण में प्रतिबिंब के साथ बालक की क्रीड़ा के समान है। जीव भगवान् की इस लीला का द्रष्टा रहता है। वह उस लीला रस में तभी सम्मिलित हो सकता है जब वह गोपियों की सेविकाओं के पास पहुँचकर उनकी सेवा करके उनकी कृपा का अधिकारी बन जाय और गोपियां उसे कृपा करके हाव-भावमयी राधा के निकट पहुँचा दें। उस अवस्था में उसका जीवत्व नष्ट हो जाता है और वह स्वरूप-शक्ति के रूप में परिणत हो जाता है।

2. कृष्ण लीलाओं की प्रतीकात्मकता

सभी अवतारी रूप अवतार लेकर लोक में कुछ लीलायें करके उद्देश्य की समाप्ति के बाद पुनः अपने लोक को लौट जाते है। कृष्णावतार का भी लीला-रूप धारण करने का एक उद्देश्य है जिसकी पूर्ति के साथ ही उनके लीला-रूप की समाप्ति हो जाती है। कृष्ण लीलाओं को हम दो भूमियों पर स्थित देखते हैं— 1. लौकिक भूमि पर और 2. आध्यात्मिक भूमि पर। प्रथम के अनुसार हर लीला का एक लौकिक स्वरूप और अर्थ होता हे और द्वितीय के अनुसार वही लीला आध्यात्मिक अथवा पारलौकिक अर्थ भी व्यंजित करती है। इन लीलाओं की यह द्विअर्थकता ही उनमे प्रतीकात्मकता का आरोप करती है। भक्त कवियों द्वारा इन लीलाओं का वर्णन प्रतीकार्थ तक पहुँचाने के उद्देश्य से ही किया जाता है। यह प्रतीकार्थ अत्यंत ही व्यापक और विविध रूप सम्पन्न होता है। अतः इसको समग्र रूप से अनुभव करने के लिए ज्ञान के विविध क्षेत्रो का आश्रय लेकर उसमें गहरे पैठकर उसे खोजना होता हे। जिन क्षेत्रों से प्रतीकार्थ का संबंध प्रायः जुड़ता है; वे आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक आदि दिखाई देते है। फिर भी संपूर्ण लीलाओ मे ये सभी पक्ष दिखायी नही देते। लीला के समग्र रूप की अथवा लीला-रूप की कुछ प्रतिनिधि लीलाओं की इन सभी तत्वों के आधार पर व्याख्या की जा सकती है। अन्य अप्रतिनिधि तथा गौण लीलाये एक-दो, क्षेत्रों की प्रतीकात्मकता की ही अभिव्यक्ति करती है।

कृष्णलीला की प्रतीकात्मकता को समझने के लिए जहाँ उनकी वैदिक काल से लेकर पौराणिक काल तक विकास-प्रक्रिया को देखना होता है, वहाँ दूसरी ओर अन्य ज्ञान-क्षेत्रों (संस्कृति, आध्यामिकता, मनोविज्ञान, लोक आदि) की दृष्टि से भी देखा जाना चाहिए। इस प्रक्रिया से अध्ययन करने पर ही प्रतीक का प्रतीकार्थ स्पष्ट हो सकता है। तभी यह समझा जा सकता है कि इस प्रतीक में स्थित लौकिक धारणा किन-किन तत्वों के विकास का परिणाम है। इस पृष्ठभूमि के प्रकाश में ही

कृष्ण-लीलाओं का विवेचन हुआ है, जिसमें ज्ञान के विविध क्षेत्रों का आश्रय लिया गया है।

3. कृष्ण लीलाओं का वर्गीकरण

सूरसागर में कृष्ण की लीलायें दो प्रकार की दिखायी देती हैं— 1. शिवत्वपरक लीलायें और 2. माधुर्य लीलायें। शिवत्वपरक लीलाओं में वे लीलायें आती हैं जिनमें कृष्ण के लोक-कल्याण रूप का दिग्दर्शन किया गया है। कंस के अनुचर और सहयोगी राक्षसों का संहार करके व्रजवासियों का दुःख और संताप तथा भूमि का भार कम करने वाले कृष्ण शिवत्व रूप में दिखायी देते हैं। माधुर्य भाव की लीलाओं में कृष्ण की बालक्रीड़ायें और शृंगार लीलायें आती हैं। यही वह रूप है जो कि वल्लभ-संप्रदाय में कृष्ण के लिए स्वीकृत हुआ है। माखन-चोरी, गोचारण, चीर-हरण, रास आदि लीलायें माधुर्य लीलायें हैं।

क्रम की दृष्टि से कृष्ण लीलाओं में शिवत्वपरक लीलायें पहले आती हैं और माधुर्य लीलायें उसके बाद। इसी क्रम के अनुसार कृष्ण लीला को इन दो भागों के अंतर्गत विभाजित करके उनमें से प्रत्येक के अंतर्गत आनेवाली लीलाओं की प्रतीकात्मकता का लीला-क्रम से आगे विवेचन किया जा रहा है।

4. प्रतीक-विवेचन

अ) शिवत्वपरक लीलायें

1. पूतना–वध

कंस की आज्ञा से कृष्ण को मारने के उद्देश्य से पूतना नंदग्राम पहुँची। उसने अपने विषपूरित स्तनों का पान कराकर पालने में सोये हुए बालकृष्ण को मार डालना चाहा। बालकृष्ण ने उसके असली स्वरूप को पहचानकर स्तन-पान करते हुए पय के साथ ही उसके प्राणों को हर लिया। पूतना पीड़ा से व्याकुल हुई, गाँव के बाहर की ओर दौड़ी और अचेत होकर एक योजन-पर्यंत स्थान को घेरती हुई पृथ्वी पर गिर पड़ी।[1]

भौतिक दृष्टि से पूतना छल और प्रपंच की मूर्ति है। कंस के सम्मुख अपने स्वरूप कथन में वह स्वयं यह बात स्पष्ट करती है—

[1] सा०, 667-669, 674

मोहन-मुर्छन-वसीकरन पढि, अगमति देह वढाऊँ।
अग सुभग सजि, ह्वै मधु-मूरति, नैननि मोह समाऊँ।
घसि कै गरल चढाइ उरोजनि, लै रुचि सौ पय प्याऊँ।[1]

सूर भी पूतना के छल तथा कपट की ओर सकेत करते है—

अ) कुच विप वांटि लगाइ कपट करि वालघातिनी परम सुहाई।[2]

आ) कपट करि व्रजहि पूतना आई।[3]

कृष्ण जो सरल भाव से उसकी गोद में गये और उसी स्वाभाविक रूप से उसके स्तन का पान किया, वे इस रूप में ऋजुता के प्रतीक है। अतः यह लीला ऋजुता की छल पर विजय की प्रतीक है।

योगपरक दृष्टि मे पूतना मोह की प्रतीक है। सूर की अनेक पंक्तियाँ इस बात की पुष्टि करती है —

अ) अग सुभग सजि, ह्वै मधु-मूरति, नैननि मोह समाऊँ।[4]

आ) रूप मोहिनी धरि व्रज आई।[5]

कृष्ण ब्रह्म के प्रतीक है। अतएव पूतना-वध-लीला ब्रह्म द्वारा मोह के नाश की प्रतीक है।

ज्योतिष की दृष्टि से पूतना आँधी-तूफान की और कृष्ण सूर्य के प्रतीक है। एतदर्थ पूतना-वध-लीला सूर्य द्वारा आंधी-तूफ़ान पर विजय की प्रतीक है। कृष्ण द्वारा पूतना के दुग्ध का पान सूर्य से मेघो के दोहन का प्रतीक है।

2. कागासुर वध

कस से कृष्ण को मारने की आज्ञा पाकर कागासुर वडे गर्व से गोकुल उड़ गया। कृष्ण को पालने मे सोये हुए देखकर वह उनके नेत्रो के सामने आकर अड़

[1] सा०, 667
[2] वही, 668
[3] वही, 670
[4] वही, 667
[5] वही, 668

गया। तब कृष्ण ने उसके कंठ को पकड़कर, बहुत बार घुमाकर पटक दिया तो वह कँस के सामने जाकर गिर पड़ा—

कंठ चाँपि बहु बार फिरायौ, गहि फट्क्यौ, नृप पास पर्यौ।[1]

कंस से कही हुई कागासुर की इस बात से, "कितिक बात प्रभु तुम आयसु तें वह जानौ मो जात मर्यौ" [2] पता चलता है कि वह गर्व का प्रतीक है। कृष्ण ने उस गर्व को मिटाया। अतएव आध्यात्मिक दृष्टि से कागासुर-वध-लीला आत्मा रूपी कृष्ण के द्वारा काग के गर्व को मिटाने की प्रतीक है।

ग्रामीण जीवन में काग खेतों में अनाज का नाश करते हुए दीख पड़ता है। अतएव काग कृषि का हानिकारक प्रतीक है। कृष्ण उस गोपालक संस्कृति के प्रतिनिधि प्रतीक हैं जिसका कृषि संस्कृति से अभिन्न संबंध है। एतदर्थ कागासुर-वध-लीला कृषि-संस्कृति से अभिन्न संबंध रखनेवाली गोपालक संस्कृति के प्रतिनिधि प्रतीक कृष्ण द्वारा कृषि के हानिकारक प्रतीक काग को मारने की प्रतीक है।

3. शकटासुर वध

राजा कंस से कृष्ण को मारने का बीडा लेकर शकट बड़ा आघात करता हुआ गोकुल के उस स्थान पर पहुँचा जहाँ कृष्ण पलने में था और अपने चरण के अँगूठे को मुहँ में लेकर किलकिल हँस रहा था। उसके कपट को समझकर कृष्ण ने उसे एक लात मारी तो वह बड़ा शब्द करते हुए गिर गया।

आध्यात्मिक दृष्टि से शकट भी गर्व का ही प्रतीक है। कंस से कही हुई उसकी बातों में गर्व स्पष्ट प्रकट होता है—

दोउ कर जोरि भयौ उठि ढाढ़ौ, प्रभु आयसु मैं पाऊँ।
ह्यां तें जाइ तुरतहीं मारौं कहौ तौ जीवित ल्याऊँ।[3]

इसलिए शकटासुर वध लीला भी आत्मा रूपी कृष्ण के द्वारा गर्व रूपी शकट के नाश की प्रतीक है।

लौकिक दृष्टि से शकट के तेज चलने से फसल को हानि पहुँचती है। कृषि-संस्कृति के प्रतिनिधि प्रतीक बलराम के भाई कृष्ण ने उसके तेज को रोक दिया।

[1] सा०, 677
[2] वही, 677
[3] वही, 679

अतएव शकटासुर वध लीला कृषि-संस्कृति के प्रतिनिधि प्रतीक बलराम के भाई कृष्ण द्वारा फसल की हानिकारक प्रतीक शकट की तेज-गति को रोकने की प्रतीक है।

4. तृणावर्त वध

तृणावर्त ववंडर के रूप में बड़ी ध्वनि करते हुए नंद के घर में प्रवेश कर आंगन में अकेले सोये हुए कृष्ण को आकाश में ले गया। कृष्ण ने उसकी ग्रीवा को जोर से पकड़ ली तो वह पर्वत के समान गिर पड़ा।[1]

कागासुर वध तथा शकटासुर वध लीलाओं की भाँति तृणावर्त वध लीला आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मा रूपी कृष्ण के द्वारा गर्व के प्रतीक तृणावर्त के नाश करने की; और लौकिक दृष्टि से अनाज को उड़ा लेने और तद्द्वारा कृषि के लिए हानि पहुँचानेवाला तृणावर्त का वेग कृषि संस्कृति के प्रतिनिधि प्रतीक बलराम के भाई कृष्ण द्वारा कम किये जाने की प्रतीक है।

5. बकासुर वध

एक राक्षस बक का रूप धारण कर यमुना के किनारे अपनी चोंच का एक सिरा पृथ्वी पर और एक आकाश मे करके बैठा था। इस स्थिति में उसका मुँह पृथ्वी तथा आकाश के मध्य गुहा के आकार का था। उसका उद्देश्य पानी पीने के लिए आ रहे कृष्ण सहित ग्वाल बालकों को अपने गुफा जैसे मुँह में लेकर मार डालना था। इस प्रकार छल करने वह वहाँ आया था। अतएव हम उसे छल का प्रतीक मान सकते हैं।[2] किन्तु कृष्ण ने बकासुर का छल पहचान लिया। उन्होंने उसके मुँह मे पहुँचकर अपना शरीर-विस्तार कर उसकी चोंच को फाड़कर उसे मार डाला—

चोंच फारि बका सँहारी।[3]

अतएव बकासुर-वध-लीला ब्रह्म रूपी कृष्ण, जो सर्वज्ञ है, के द्वारा बक रूपी छल के नाश की प्रतीक है।

[1] सा०, 694–96

[2] The Puranas in the light of Modern Science, पृ० 252

[3] सा०, 1045

6. अघासुर वध

पर्वत के समान आकार-प्रकार वाला अघासुर मुँह खोलकर घात लगाये बैठा था। उसके मुँह में सघन वन, नदी आदि थे। गोप बाल यह सोचकर कि गायें यहाँ के वन की हरी घास तृप्तिपूर्वक चरेंगी, उसके मुँह में घुस गये। तब अघासुर ने अपने जबड़े समेट लिए तो गोप बाल त्राहि-त्राहि चिल्लाने लगे। कृष्ण ने उन्हें धैर्य देकर अपने शरीर को दुगुना कर उस पर आघात किया। इससे राक्षस का ब्रह्म द्वार फट गया। तब कृष्ण बाहर आये और उन्होंने सब को बाहर आने के लिए प्रेरित किया। अघासुर के पेट से निकलकर सब प्रसन्न हुए।

अघासुर द्वारा गोपबालों को धोखे में डालने के विधान से स्पष्ट है कि वह पापों का मूर्तिमान रूप है। यह बात उसके नाम और विधान से स्पष्ट होती है। इस लीला के प्रति कवि का दृष्टिकोण और कृष्ण का संकल्प भी राक्षस के इसी रूप के परिचायक हैं—

असुर-कुलहिं संहार धरनि को भार उतारो।
कपट रूप रचि रह्यो दनुज यहि तुरत पछारो।[1]

इस व्याख्या से स्पष्ट है कि अघासुर पाप का मूर्तिमान प्रतीक है। भागवत में भी अघासुर को इसी प्रतीक के रूप में स्वीकार किया गया है।[2] यह लीला पापों के नाश द्वारा पृथ्वी के बोझ को उतारने के भगवान् के संकल्प की प्रतीक है।

7. कालिय दमन

सूर की कालिय-दमन-लीला[3] की ये मुख्य बातें हैं—

1. गेंद-क्रीड़ा में श्रीदामा की गेंद का यमुना में गिर पड़ना।
2. श्रीदामा की गेंद लाने और कंस के लिए कालीदह पुष्प लाने हेतु कृष्ण का कदंब वृक्ष पर चढ़कर कालीदह में कूद पड़ना।
3. कृष्ण तथा काली की मुठभेड़।
4. कृष्ण के द्वारा काली को नाथना और उसके फनों पर नृत्य।
5. काली को कृष्णावतार संबंधी बोध।

[1] सा०, 1049
[2] अन्तर्हित सर्वात्मनिर्धूत पातक। श्रीमद्भागवत, 10-12-38
[3] द्रष्टव्य, सागर के ये पद:- 1153, 1156-1158, 1175, 1184, 1192, 1193, 1197

6. काली द्वारा कृष्ण की स्तुति और उसकी पत्नियों द्वारा उनसे पति-रक्षा की प्रार्थना।
7. फलस्वरूप कृष्ण का काली को न मारना; गरुड़-भय से मुक्त करने के लिए उसके फनों को चरण-चिह्नित करना तथा उसको अपने मूल-स्थान समुद्र में जाने का आदेश देना।

इस लीला में कृष्ण के कदंब वृक्ष के ऊपर से कालीदह में कूद पड़ने का उल्लेख किया गया है। यहां कदंब वृक्ष ज्ञान या ब्रह्मज्ञान का प्रतीक है जिस पर बिना चढ़े हुए संसार रूपी अपार जल में कूद पड़ने पर सफलता मिलना कठिन है। जीव को आसुरी शक्तियों पर विजय पाकर सफल होने के लिए ब्रह्मज्ञान रूपी कदंब वृक्ष पर चढ़ना आवश्यक है। प्रस्तुत लीला में कदंब वृक्ष पर चढ़ना जीव द्वारा ब्रह्मज्ञान से संयुक्त होने की प्रक्रिया की ही प्रतीतात्मकता का द्योतक है।

प्रतीक-विवेचन

इस लीला द्वारा जितने प्रतीक बन सकते हैं उनको एक सारणी द्वारा स्पष्ट किया गया है। सारणी में प्रतीक वर्ग, यमुना, कालिय और कृष्ण के प्रतीकेय तथा लीला के संदर्भ में उनकी व्याख्या प्रस्तुत की गयी है।

कालिय दमन लीला: प्रतीक-विधान

क्र० सं०	प्रतीक वर्ग	यमुना के प्रतीकेय	काली के प्रतीकेय	कृष्ण के प्रतीकेय	लीला के संदर्भ में प्रतीकात्मक व्याख्या
1	पौराणिक	वर्षा	वृत्र	इंद्र	वृत्र रूपी काली द्वारा वर्षा रूपी यमुना-जल को अपने प्रयोग के लिए सीमित रखकर संसार के प्रति उसकी गति को अवरुद्ध करना और इंद्र रूपी कृष्ण द्वारा वृत्र का दमन कर उस अवरोध को हटाना।
2	आध्यात्मिक	अ) जीव	अहं	ब्रह्म	जीव का अहंग्रस्त होकर आत्मस्वरूप को भूल जाना; ब्रह्म द्वारा उसके अहं का मर्दन करके उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कराना।
		आ) संसार	तामसिक एवं अशिव प्रवृत्तियाँ	स्थितप्रज्ञ मन	कालिय नाग रूपी तामसिक एवं अशिव वृत्तियों द्वारा संसार रूपी यमुना के जल को विषाक्त करना; कृष्ण रूपी स्थितप्रज्ञ मन द्वारा उन वृत्तियों रूपी नाग को वश में करना।
		इ) जीवन	मृत्यु	योगिराज	योगिराज द्वारा योग साधना से जीवन की मृत्यु पर विजय पाना।
		ई) प्रकृति तत्त्व	प्रतिकूल शक्तियाँ	कर्मयोगी	साधना से प्रकृति की प्रतिकूल शक्तियों को कर्मयोगी द्वारा अपने अनुकूल बना लेना।
3	योगपरक	हृदय	कुंडलिनी	हठयोगी	हठयोगी द्वारा हृदय में वास करनेवाली कुंडलिनी को वश में कर सिद्धि प्राप्त करना।
4	वैज्ञानिक	विश्व का अभेद रहस्य	सीमित काल	परमतत्त्व	कालिय रूपी समय द्वारा यमुना रूपी विश्व स्वरूप को अपनी सीमाबद्धता के गुण से सीमित करना और परमतत्त्व रूपी कृष्ण द्वारा समय की विषाक्त प्रवृत्ति को अपने अधिकार में करना; इस प्रकार परमशक्ति द्वारा अपने विस्तार का परिचय देना।
5	मनोवैज्ञानिक	अंतःप्रेरणाओं से युक्त चेतना	अचेतना	दिव्य चेतना	अचेतना के वास से चेतना की गति के अवरुद्ध होने पर दिव्य चेतना के अचेतन को दमित कर चेतना की गति को अबाध बनाना।

8. दावानल पान

कंस से बीड़ा लेकर कृष्ण तथा बलराम को मारने के लिए दावानल ब्रज पर दौड़ पड़ा—

भहरात झहरात दवा(नल) आयौ ॥
घेरि चहुँ ओर, करि सोर अंदोर वन, धरनि आकास चहुं पास छायौ ॥

*　　*　　*

बरन वन पात भहरात झहरात अररात तरु महा धरनी गिरायौ ॥[1]

इसे देखकर ब्रज के सब लोग व्याकुल हुए और शरण के लिए कृष्ण को पुकार उठे। कृष्ण ने लोगों को नैन मूंदने के लिए कहा —

नैन मुंदाइ कहा तिहिं कीन्हौ, कहूं नहीं जो देखै हेरि ।[2]
तब कृष्ण ने दावानल को पीकर सबको सुखी किया —
सूर प्रभु सुख दियौ, दवानल पी लियौ,
कहत सब ग्वाल धनि-धनि मुरारी ।[3]

दावानल संसार में व्याप्त दुःखों तथा विपत्तियों का समष्टिगत प्रतीक है। अंतश्चेतना इतनी व्यापक है कि वह बाह्य जगत् के संकटों आदि को अपने में समेट सकती है। इस प्रकार दावानल-पान-लीला अंतश्चेतना रूपी कृष्ण द्वारा बाह्य दुखों तथा विपत्तियों रूपी दावानल को पान (अपने में समेटने) करने की प्रतीक है।

कृष्ण ग्वालों से नेत्र मूंदने की बात कहते है जिसका अभिप्राय दावानल की भयंकरता से अप्रभावित रहने का है। यदि क्रिया के प्रति प्रतिक्रिया न हो तो जिस प्रकार क्रिया का प्रभाव नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार दावानल की भयंकरता से भयभीत न होने की दशा में उसकी भयंकरता भी नष्ट हो जाती है। इस प्रकार 'आँख मूंदने' में जीवन में आनेवाली आपत्तियों के प्रति एक दृष्टिकोण का उद्घाटन हुआ है। अतः यह जीवन के प्रति दृष्टिकोण की प्रतीकात्मकता को स्पष्ट करता है।

[1] सा०, 1214
[3] वही, 1218
वही, 1215

व्रज के लोग फिरत वितताने ।

* * *

कोउ पहुंचे जैस-तैसे गृह, कोउ ढूंढ़त गृह नहिं पहिचाने ।[1]

तव उन्होंने माधव से अपने उद्धार की प्रार्थना की —

जैसैं अनल, व्याल-मुख राखे, श्रीपति करौ सहाइ ।
हमरैं तौ तुम्हीं चितामनि, सब विधि दाइ उपाइ ।[2]

कृष्ण ने उन्हें धैर्य देकर बाएं कर से गोवर्द्धन गिरि को उठाया । गोपियाँ, ग्वाल, गाये, गो-सुत सब दुःख भूलकर अत्यन्त सुखी हुए । कृष्ण सात दिन तक गिरि को उठाये रहे । इससे इन्द्र अत्यन्त दुखी हुए । इस प्रकार गोवर्द्धन-धारण-लीला द्वारा कृष्ण ने इंद्र का गर्व-भंग किया ।

प्रतीक विवेचना

गोवर्द्धन-धारण लीला की प्रतीकात्मकता दो दृष्टियों से हृदयंगम की जा सकती है—अ) पौराणिक दृष्टिकोण, आ) लीलापरक दृष्टिकोण ।

अ) पौराणिक दृष्टिकोण : डा० वीरेन्द्र सिंह ने अपनी 'हिन्दी काव्य में प्रतीकवाद का विकास' नामक पुस्तक में इस लीला की प्रतीकात्मकता का पुराणों के आधार पर विवेचन किया है । ऋग्वेद में इंद्र और वृत्रासुर का संघर्ष प्रसिद्ध है । उसमें इंद्र वृत्रहंता वताये गये हैं । इंद्र ने जल अपहरण करनेवाले वृत्र का गर्व नाश किया था । ऋग्वेद में वृत्र आच्छादक हिंसाकारी शक्ति के रूप में चित्रित है । लेकिन आगे चल कर इंद्र की प्रधानता विष्णु की सापेक्षता में कम हुई और उसमें भी हिंसाकारी प्रवृत्ति वढ़ गयी तव वह भी वृत्र माना गया । सूरसागर के 'गोवर्द्धनधारण लीला' प्रसंग में भी हमें इंद्र का वृत्र-रूप ही मिलता है । इंद्र प्रलय वर्षा के द्वारा गोधन का नाश करने का प्रयत्न करते हैं । किंतु विष्णु रूपी कृष्ण जो शिव-प्रवृत्ति के प्रतीक हैं, गोधन की वृद्धि करनेवाले गोवर्द्धन को सहायता पहुँचाते हैं । अंत में वृत्र रूपी इंद्र का पराभव होता है । इस प्रकार गोवर्द्धन धारण लीला हिंसाकारी प्रवृत्तियों का प्रतीक वृत्र रूपी इंद्र का पराभव और शिवत्व भावना के प्रतीक गोवर्धनधारी कृष्ण की विजय को प्रकट करती है ।[3]

[1] सा०, 1478
[2] वही, 1485
[3] द्रष्टव्य, हिंदी काव्य में प्रतीकवाद का विकास, पृ० 368-69

आ) लीलापरक दृष्टिकोण : गोवर्द्धन धारण लीला को लीला-प्रतीक के रूप में देखने पर उसके अंतर्गत निम्न प्रतीक दिखाई देते हैं। गो इंद्रियों का, गोप और गोपी इंद्रियों के रक्षक के, गोपाल इंद्रियों के स्वामी के, गोवर्द्धन इंद्रियों को वर्द्धन करने वाले (गोधन का वर्द्धन करनेवाले) का और इंद्र इंद्रियों को दमन करनेवाले का प्रतीक है। व्रज में इंद्र-पूजा प्रचलित थी। इसके स्थान पर कृष्ण ने गोवर्द्धन पूजा प्रचलित की। इससे इंद्र कुपित हुआ और कृष्ण ने गोवर्द्धन धारण करके समस्त व्रज की इंद्र-कोप से रक्षा की। इस कथा को लीला प्रतीक के रूप में यों समझा जा सकता है। कृष्ण परंपरा में प्रचलित इंद्रिय दमन (योग, कर्म और ज्ञान मार्ग में) रूपी इंद्र पूजा के स्थान पर इंद्रियों का संवर्द्धन करने वाले गोवर्द्धन की पूजा का विधान करते हैं (माधुर्य भाव के अंतर्गत कामनाओं का संवर्द्धन ही ग्राह्य है, दमन नहीं)। अतः दमन के प्रतीक इंद्र का क्रोधित होना स्वाभाविक है और उससे रक्षा भी गोवर्द्धन रूपी गोधन-संवर्द्धन से ही संभव है। इंद्र की पराजय माधुर्य-भाव-साधना-पद्धति के समक्ष ध्यान, योग आदि में प्रचलित इंद्रिय-दमन की प्रवृत्ति की पराजय की प्रतीक है। इस प्रकार यह लीला परंपरा से प्रचलित भक्ति पद्धतियों पर पुष्टि-मार्गीय साधना पद्धति की विजय को भी घोषित करती है।

11. वृषभासुर वध

एक दिन गोचारण के समय कृष्ण बलराम तथा गोप सखाओं के सहित खेलते खेलते वन के भीतर चले गये और गायें इधर उधर चरने लगीं। यह समय पाकर वृषभासुर धेनुपति होकर गायों में मिल गया। उसे देखकर गायें तितर-बितर हो गयीं। कृष्ण ने उसे देख लिया और उसके सामने से आगे बढ़ने लगे तो वह उनके ऊपर कूद पड़ा। कृष्ण ने उसके पैरों को पकड़ कर घुमा दिया और भूतल पर फेंक दिया –

पाउं पकरि भुज सौं गहि फेर्‌यौ भूतल माहिं पछार्‌यौ।[1]

वृषभ आध्यात्मिक दृष्टि से गर्व और लौकिक दृष्टि से कृषि-संस्कृति में प्रमुख भाग लेने वाली गायों को कुमार्ग पर ले जानेवाले का प्रतीक है। अतएव वृषभासुर-वध-लीला की प्रतीकात्मकता को कागासुर-वध-लीला तथा शकटासुर-वध-लीला के अनुसार समझी जा सकती है।

[1] सा०, 2005

12. केशी वध

कंस के कहने पर केशी बड़ा उत्पात मचाते हुए व्रज में पहुंचा। कृष्ण के संकेत देकर बुलाने पर वह उनकी ओर गया। कृष्ण ने दोनों हाथों से उसे पकड़ कर जोर से पटक दिया तो वह अत्यन्त विह्वल होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा और फिर संभल न सका। बाद में कृष्ण ने उसके मुंह में एक हाथ रखकर उसे चारों ओर घुमाकर फेंक दिया।[1] इस प्रकार कृष्ण ने केशी का वध किया। इस लीला की प्रतीकात्मकता शकटासुर वध लीला के समान है। अतः यहां इस पर विचार नहीं किया गया है।

13. व्योमासुर वध

एक दिन व्योमासुर ग्वाल रूप धरकर ग्वालों से खेलने लगा। यह बात किसी को भी मालूम नहीं हुई। खेलते-खेलते उसने ग्वालों को ले जाकर गुफ़ा में छिपा दिया। इसे जानकर कृष्ण ने उसे मार डाला।[2]

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि व्योमासुर छल का प्रतीक है। अतएव व्योमासुर-वध-लीला आत्मा रूपी कृष्ण द्वारा व्योमासुर रूपी छल पर विजय प्राप्त करने की प्रतीक है।

14. कंस वध

कालिंदी के किनारे मथुरा नामक नगर था। उग्रसेन के पुत्र कंस वहां का राजा था। जब कंस ने अपनी बहन देवकी को विवाह में वासुदेव को सौंप दिया तब आकाशवाणी हुई कि देवकी के गर्भ से उत्पन्न होनेवाला पुत्र उसे मार देगा। इससे भयभीत तथा क्रुद्ध कंस ने देवकी को मारने के लिए खड्ग उठाया। किंतु देव-मुनियों की सलाह पर उसने देवकी को छोड़कर उसके पुत्रों को मार देने का संकल्प किया। उसने देवकी के गर्भ से उत्पन्न सात पुत्रों को मार डाला।[3]

बाद में कंस ने अपनी सारी दृष्टि कृष्ण तथा बलराम को मारने में केंद्रित की। उसने अपने इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए अनहने साधनों को अपनाने में संकोच नहीं किया। उसने पूतना, कागासुर, शकटासुर, बकासुर आदि राक्षसों को कृष्ण तथा बलराम को मारने भेजा। इस कार्य में उनके असमर्थ होने पर उसने नारद की

[1] सा०, 2014
[2] वही, 2015
[3] सा०, 622

मन-मन कहति कबहुँ अपनैं घर, देखौं माखन खात।
बैठ जाइ मथनियाँ कै ढिग, मैं तब रहौं छपानी ॥[1]

गोपी की मनोकामना की पूर्ति के लिए कृष्ण उसके घर में प्रवेश करते हैं। उनकी लीला को देखने के उद्देश्य से गोपी छिप जाती है। कृष्ण बड़े चाव से माखन खाने लगते हैं। वे मणिमय खंभ में अपने ही प्रतिबिंब को देखकर बातें करने लगते हैं।[2] इसे देखकर गोपी हँस पड़ती है तो कृष्ण भाग निकलते हैं—

सुनि-सुनि बात स्याम के मुख की, उमँगि हँसी ब्रजनारी।
सूरदास प्रभु निरखि ग्वाल-मुख तब भजि चले मुरारी ॥[3]

कभी-कभी कोई-कोई भक्त अपने काम को भगवान् में केन्द्रीकृत कर पतन से बचने का प्रयत्न नहीं करते तब। भगवान् ही उनके काम को हरकर उन पर कृपा प्रकट करते हैं। यह बात पुष्टि-संप्रदाय के अनुकूल ही है। इसी कारण भगवान् कृष्ण भक्त रूपी गोपियों के घर-घर ढूंढते-फिरते हैं और मौका पाकर काम रूपी माखन खा लेते हैं—

देखि फिरे हरि ग्वाल दुवारैं।

*　　*　　*

लै-लै खात अकेले आपुन सखा नहीं कोउ साथ।[4]

भगवान कृष्ण का मन इतना विशाल है कि उसमें समस्त गोपियों के माखन के लिए स्थान मिल जाता है—

स्याम हृदय अति विशाल। माखन दधि-बिंदु जाल।[5]

कृष्ण कभी-कभी माखन-चोरी-लीला में अपने सखाओं की भी सहायता लेते हैं—

पैठे सखनि सहित घर सूनें, दधि माखन सब खाए।[6]

[1] सा०, 882
[2] वही, 883
[3] वही, 883
[4] वही, 895
[5] वही, 893
[6] वही, 888

माखन-चोरी के इस प्रसंग में गोपी को घर आते देखकर ग्वाल वाल "खेलते हुए यहाँ आकर छिप गये थे" कहते हुए कन्हैया के साथ व्रज की तंग गली में भाग निकलते हैं—

खेलत तैं उठि भज्यौ सखा यह, इहिं घर आए छपान्यौ।
भुज गहि लियौ कान्ह एक बालक, निकसे व्रज की खोरि।[1]

कृष्ण की माखन-चोरी का एक कारण उनकी माखन-प्रियता भी है। उनकी माखन-प्रियता का कारण हमें ऋग्वेद में मिलता है। ऋग्वेद में अग्नि और यज्ञ का अभिन्न संबंध है। अग्नि को गोरस अत्यन्त प्रिय है क्योंकि उसी से उसकी पुष्टि होती है। विष्णु यज्ञ का देवता है। उन्हें भी गोरस अत्यन्त प्रिय रहा होगा। कृष्ण विष्णु का ही अवतार है। अतः गोरस कृष्ण को भी अत्यन्त प्रिय है।

कृष्ण की माखन-प्रियता के हेतु को कृष्णावतार के उद्देश्य के संदर्भ में भी ढूंढ सकते हैं। कृष्ण का अवतार पृथ्वी का बोझ उतारने और आततायियों का दमन करने के लिए हुआ था। इस हेतु के लिए शक्ति और बल की आवश्यकता है और गोरस ही इसे प्रदान करने में समर्थ है। कृष्ण अपने निश्चित कार्य को जल्दी से जल्दी समाप्त करने के लिए उत्सुक है। इसीलिए स्वयं यथेच्छ माखन चुराकर खा लेते हैं और माँ से भी बार-बार अधिकाधिक मात्रा में माखन खिलाने का आग्रह करते हैं जिससे उनकी पुष्टि हो और वे अपने अवतारी कार्य को शीघ्रातिशीघ्र कर सकें—

मैया, मोहिं बड़ौ करि लै री।
दूध-दही-घृत-माखन-मेवा, जो माँगौ सो दै री।
कछू हौंस राखै जनि मेरी, जोइ-जोइ मोहिं रुचै री।
होऊँ बेगि मैं सबल सबनि मैं सदा रहौं निरभै री।
रंगभूमि मैं कंस पछारौं, घीसि बहाऊँ बैरी।[2]

माखन-चोरी-लीला में सब गोपियों का पूरा माखन कृष्ण के द्वारा ही खाये जाने का आध्यात्मिक प्रतीक इस रूप में समझा जा सकता है कि पुष्टिमार्ग के अनु-

[1] सा०, 888
[2] वही, 794

सार गोपी रूपी जीवों की सम्पूर्ण कामनायें (माखन) कृष्ण रूपी परमात्मा की ओर ही उन्मुख होनी चाहिएं। यदि वह माखन कृष्ण में न समाकर संसार में स्थान पावे तो उस अवस्था में जीव पुष्टि-जीव न होकर प्रवाह-जीव या मर्यादा-जीव की ही कोटि में आ जावेगा। अतः पुष्टिमार्ग के अनुसार ब्रज की समस्त गोपियों के संपूर्ण माखन को कृष्ण के उदर में जाना ही है और इस रहस्य को गोपियां समझ नहीं पायीं और इसीलिए कृष्ण को चोरी का ढंग अपनाना पड़ा—

मन में यहै विचार करत हरि, ब्रज घर घर सब जाउँ।
गोकुल जनम लियौ सुख-कारन, सबकैं माखन खाउँ।[1]

2. गोचारण लीला

कृष्ण नित्य बलराम तथा गोपबालों के साथ गोचारण के लिए जाते थे। जहाँ-जहाँ गायें चरती थीं, वहाँ-वहाँ वे ग्वालों के साथ दौड़ते थे।[2] वे ग्वाल बालों के साथ छाँक बाँटकर खा लेते थे।[3] संध्या को वे गोरज लपटाये घर लौटते थे।[4] गोचारण के समय ही उन्होंने बकासुर, अघासुर आदि को मारा।

गोचारण लीला की प्रतीकात्मकता की ओर बृहदारण्यकोपनिषद् में संकेत मिलता है। उसमे कहा गया है "वाक् रूप धेनु की उपासना करे। उसके चार स्तन हैं–स्वाहाकार, वषट्कार, हन्तकार और स्वधाकार। उसके दो स्तन स्वाहाकार और वषट्कार के उपजीवी देवगण हैं; हन्तकार के उपजीवी मनुष्य हैं और स्वधाकार के पितृगण। उस धेनु का प्राण वृषभ है और मन बछड़ा।" यहाँ वाक् धेनु, वाक् का प्राण वृषभ और मन बछड़ा बताया गया है। जिस प्रकार प्राण के द्वारा वाक् प्रसव करती है उसी प्रकार धेनु के जनन का कारण वृषभ है। अतएव वृषभ वाक् का प्राण बताया गया है।

वाक्, प्राण और मन का समावेश 'धेनु' में किया गया है और यही धेनु कृष्ण चाहते हैं। अतः वाक्, प्राण और मन रूपी गायों को चरानेवाले कृष्ण ब्रह्म के प्रतीक हैं क्योंकि वाक्, प्राण और मन का उपासक या रक्षक ब्रह्मभाव को ही

[1] सा०, 886
[2] वही, 1033
[3] वही, 1034
[4] वही, 1035

प्राप्त करता है। मानवीय दृष्टि से इस लीला की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि वाक्, प्राण और मन को जीतकर ही आत्मज्ञान की ओर उन्मुख हुआ जा सकता है। इस प्रक्रिया में (गोचारण लीला के संदर्भ में) होनेवाली तामसी वृत्तियाँ और बाधायें ही वे राक्षस हैं जिन्हें कृष्ण ने गाय चराते हुए समाप्त किया। अतः यह संपूर्ण लीला सात्विक तत्वों का पोषण और तामसिक वृत्तियों के निराकरण का प्रतीकात्मक अर्थ ही देती है।

3. चीर-हरण-लीला

सूरदास ने चीर-हरण-लीला का वर्णन इस प्रकार किया है—
गोपियों का कृष्ण के प्रति प्रेम दिन-ब-दिन बढ़ने लगता है। जप, तप, व्रत, संयम आदि जिन साधनों से भी कृष्ण अपने पति बन सकें, उनको अपनाने का वे संकल्प करती हैं। वे बड़े नियम से महादेव की पूजा करती हैं: रवि से विनय करती हैं: शीत को सहन करती हैं: शरीर के क्षीण होने पर भी उसकी परवाह नहीं करतीं। प्रेम की परीक्षा में गोपियों को सफल पाकर कृष्ण उनकी मनोकामना को पूरा करना चाहते हैं। इसके पहले वे चीर-हरण-लीला द्वारा उनके संकोच तथा लोक-लज्जा, जो गोपियों को अपने से मिलने में अवरोध बनी हुई है, को दूर करना चाहते हैं।

एक दिन जब गोपियाँ चीर तथा आभूषण यमुना के किनारे रखकर जल में नग्न ही स्नान करने लगती हैं तो कृष्ण मौका पाकर उन्हें लेकर कदंब वृक्ष पर चढ़ जाते हैं। बाद में गोपियाँ कृष्ण की करतूत समझ लेती हैं। लज्जा तथा संकोच के कारण वे जल से बाहर नहीं आ पातीं। कृष्ण उनको समझाते हैं—

> व्रत तुम्हारौ भयौ पूरन, कह्यौ नंद-कुमार॥
> सलिल तैं सब निकसि आवहु, वृथा सहतिं तुषार।
> देत हौं किन लेहु मोसों, चीर, चोली हार॥
> बाँह टेकि बिनै करौ मोहिं, कहत बारंबार।
> सूर प्रभु के आइ आगैं, करहु सब सिंगार।[1]

किन्तु गोपियाँ अपने परंपरागत संस्कार के कारण कहती हैं—

[1] सा०, 1404

नव बाला हम, तरुन कान्ह तुम, कैसै अंग दिखावें।
जल ही मैं सब बाँह टेकि कै देखहु स्याम रिझावें।[1]

कृष्ण गोपियों के विचार से कब सहमत होनेवाले हैं ? इसलिए वे कहते हैं–

ऐसैं नहिं रीझौं मैं तुम सौं, तट ही बाँह उठावहु।
सूरदास प्रभु कहत सबनि सौं वस्त्र हार तब पावहु।।[2]

तब गोपियाँ जल से निकलकर तट पर खड़ी होती हैं। किन्तु उनकी लज्जा पूर्णतः छूटती नहीं। इसलिए वे अंग तथा छाती पर हाथ रख लेती हैं। कृष्ण उनसे हाथ हटाने को कहते हैं। उनकी आज्ञा का पालन करते हुए गोपियों ने बाँहें फैलायी। कृष्ण ने सब गोपियों के अंगों का स्पर्श कर उनके व्रत को पूरा किया : उनके संकोच तथा लोक-लज्जा के दूर होने पर उनको वस्त्र तथा हार लौटाये : शरद् की रात को उनकी मनोकामना को पूरा करने का आश्वासन दिया।[3]

प्रतीक विवेचन : चीर हरण लीला में कृष्ण परमात्मा के, गोपियाँ मर्यादा जीव की, यमुना संसार की, चीर संकोच तथा लोक-लज्जा के, कदंब ज्ञान का प्रतीक है।

संसार रूपी यमुना में मर्यादा जीव रूपी गोपियाँ निमज्जित रहती हैं। वे परमात्मा रूपी कृष्ण से अपार प्रेम करती हैं। किन्तु वे लोक-लाज तथा संकोच रूपी चीर के कारण ज्ञान रूपी कदंब वृक्ष पर चढ़े हुए परमात्मा कृष्ण के सामने अपने निजी रूप में प्रकट नहीं हो पातीं। परमात्मा कृष्ण उन जीव रूपी गोपियों के प्रेम की परीक्षा लेकर उन्हें अपने निकट लेने का निश्चय करते हैं और चीर-हरण-लीला की भूमिका बनती है।

इसी कारण गोपियों के स्नान करते समय वे उनके चीर हर लेते हैं। गोपियाँ उनके इस कार्य को पहले समझ नहीं पाती। धीरे-धीरे ज्ञान रूपी कदंब के स्वर्णिम आलोक में उनकी लज्जा रूपी मर्यादा छूटने लगती है और वे कृष्ण के सामने प्रकट होती हैं।

[1] सा०, 1409
[2] वही, 1409
[3] वही, 1413-15

इस प्रकार चीर-हरण-लीला परमात्मा कृष्ण के द्वारा ज्ञान रूपी कदंब वृक्ष पर चढ़कर संसार रूपी यमुना में निमज्जित मर्यादा जीव रूपी गोपियों के संकोच तथा लोक-लज्जा रूपी चीर हरने की प्रतीक है।

4. रासलीला

कृष्ण की लीलाओं में रासलीला अत्यन्त प्रमुख है। सूर ने सूरसागर के दशमस्कंध में इसका अत्यन्त विस्तार के साथ वर्णन किया है—

शरद् की पूर्णिमा की रात थी। चाँदनी छिटक रही थी। यमुना का पुलिन रमणीक था। त्रिविध पवन वह रहा था। वृंदावन में नाना प्रकार के पुष्प विकसित थे। ऐसी सुरम्य प्रकृति को देखकर कृष्ण ने समस्त गोपियों के नाम लेते हुए वेणुनाद किया। इससे गोपियाँ अत्यन्त व्याकुल हुई। उनमें कृष्ण से मिलने की उत्कंठा तीव्र होने लगी और वे कुल-मर्यादा, संकोच तथा लोक-लज्जा छोड़कर कृष्ण से मिलने के लिए भादों के जल-प्रवाह की भाँति चल निकलीं :

कृष्ण चीर-हरण-लीला के द्वारा गोपियों के संकोच, लोक-लज्जा तथा कुल-मर्यादा का निवारण कर चुके थे, जिसका रासलीला की स्थिति तक पहुँचते-पहुँचते अभाव दिखाई पड़ता है। फिर भी कृष्ण ने यह परीक्षा लेनी चाही कि उनमें अभी संकोच, लोक-लज्जा तथा कुल-मर्यादा शेष है कि नहीं। इसलिए उन्होंने उनको वेद-मार्ग का उपदेश देकर अपने-अपने घर चले जाने की सलाह दी—

> इहिं विधि वेद-मारग सुनौ।
> कपट तजि पति करौ पूजा, कहा तुम जिय गुनौ।[1]

किन्तु गोपियों ने उनकी बातें नही मानी। उन्होंने कृष्ण को ही अपना सर्वस्व बताया। गोपियों को परीक्षा में उत्तीर्ण पाकर कृष्ण ने चीर-हरण-लीला के समय दिये हुए आश्वासन के अनुसार रास-लीला का आरम्भ किया।

कृष्ण रास-मंडली के मध्य में थे। राधा उनके वाम-भाग में थी। गोपियां उनके चारो ओर थी। उनकी अष्टनायिकाये आठ दिशाओं में शोभा पाती थीं। रास-मंडली के बीच राधा-कृष्ण ऐसे अभिन्न थे मानों वे बिजली और बादल हों या दोनों मिलकर एकरूप हो गये हों। गोपियाँ जितनी थी, उतने ही रूप धरकर

[1] सा०, 1634

कृष्ण उनके साथ नाचने लगे। गोपियों की नाट्य-मुद्रा के अनुरूप ही कृष्ण नृत्य-भंगिमा धारण करते थे।

रास-नृत्य में कृष्ण तथा गोपियाँ आनंद में इतनी तल्लीन हो गयी थीं कि कभी-कभी कृष्ण का मुकुट लटकता हुआ दिखायी देता तो कभी-कभी किसी गोपी की वेणी छूटी हुई, किसी की लटें बिखरी हुई अथवा किसी के सिर से फूल खिसकते हुए दिखायी पड़ते थे।

राधा कभी अपने प्रियतम कृष्ण को हृदय से लगा लेती, कभी तान दे देकर उनके मन को रिझाती, कभी उन्हें चुंबन देती, कभी आकृष्ट कर उनके हृदय को वश में कर लेती, कभी उनकी भुजाओं को कण्ठ से लगा लेती, कभी उन्हें अपने कुचों के बीच पकड़ लेती, कभी उन्हें अधरामृत पिलाती, कभी एक हाथ को चिवुक पर रखकर दूसरे हाथ को सिर पर रखती और कभी उनके मुख को एकटक देखती रह जाती थी।

रास-सुख से गोपियों का गर्व बढ़ गया। कृष्ण राधा को लेकर अदृश्य हो गये। गोपियाँ अपने अपराध पर पश्चात्ताप करती हुई उन्हें वन में ढूँढ़ने लगी—

हुते कान्ह अबही सँग बन मैं, मोहन-मोहन कहि टेरैं।
ऐसौ सँग तजि दूर भए क्यौं, जानि परत अब गैयनि घेरैं॥
चूकि मानि लीन्ही हम अपनी, कैसेहुँ लाल बहुरि फिरि हेरैं।
कहियत हौ तुम अंतरजामी, पूरन कामी सबही केरैं॥
ढूँढ़ति हैं द्रुम बेली बाला, भई बिहाल करतिं अवसेरैं।
सूरदास प्रभु रास-बिहारी, वृथा करत काहे कौं भेरैं॥[1]

राधा के मन में गर्व हुआ है कि मैं कृष्ण के प्रेम की एक मात्र अधिकारिणी हूँ। इसलिए उसने थकावट का बहाना करके कृष्ण के कंधों पर चढ़ने का आग्रह किया—

कहै भामिनी कंत सौं, मोहिं कँध चढ़ावहु।[2]

उसके गर्व को देखकर, उसे नष्ट करने के उद्देश्य से कृष्ण अदृश्य हो गये। कृष्ण के बिछुड़ने पर राधा की अत्यन्त दयनीय स्थिति हुई—

[1] सा०, 1704
[2] वही 1719

वाएँ कर द्रुम टेके ठाढ़ी।
विछुरे मदन गोपाल रसिक मोहिं, विरह-व्यथा तनु वाढ़ी।
लोचन सजल, वचन नहिं आवै, स्वास लेति अति गाढ़ी।
नंदलाल हम सौं ऐसी करि, जल तैं मीन धरि काढ़ी।
तव तक लाड़ लड़ाइ लडैतै, वेनि कर गुही गाढ़ी।
सूर स्याम प्रभु तुम्हरे दरस विनु, अव न चलत डग आढ़ी ॥[1]

रावा-कृष्ण को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते गोपियों ने वन में एक वृक्ष के नीचे राधा को अकेले मूर्छित पड़े हुए देखा। गोपियों के वार-वार पूछने पर रावा ने उन्हें वताया कि मेरे गर्व के कारण ही कृष्ण मुझे भी छोड़ कर चले गये हैं। विरह-व्याकुला रावा ने गोपियों से दीनता भरे वचनों में अपने प्रियतम से मिलाने के लिए कहा—

सखी मोहिं मोहनलाल मिलावै।
ज्यौं चकोर चंदा कौ, कीटक भृंगी ध्यान लगावै।
विनु देख मोहिं कल न परति है, यह कहि सवनि सुनावै।[2]

सव गोपियाँ विरह से अत्यन्त व्याकुल होकर कृष्ण को ढूँढ़ने लगी—

कहँ गए यह कहति सवै मग जोवहीं,
काम तनु दहत सव घोप-नारी।[3]

कृष्ण के वियोग से गोपियों को जो दुःख हुआ, उससे उनका गर्व गल गया। इसे जानकर और गोपियों के प्रेम को पहचानकर कृष्ण प्रकट हुए। उन्होंने गोपियों से मिलकर उन्हें आनन्द प्रदान किया और उनके साथ फिर रास-विहार किया—

वहै रास-मण्डल-रस जानतिँ, विच गोपी, विच स्यामधनी।[4]

प्रतीक-विवेचन : रासलीला के प्रतीकार्थ को हम तीन दृष्टियों से हृदयंगम

[1] सा०, 1721
[2] वही, 1732
[3] वही, 1737
[4] वही, 1748

कर सकते हैं—अ) आध्यात्मिक, आ) योगपरक, इ) वैज्ञानिक। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से रासलीला पर विचार करने पर हमको इसमें पाँच प्रकार की; योगपरक दृष्टि से एक प्रकार की और वैज्ञानिक दृष्टि से दो प्रकार की प्रतीकात्मकता दिखायी देती है। नीचे प्रत्येक दृष्टि को लेकर क्रमशः उसके अंतर्गत आनेवाली समस्त प्रतीकात्मकता को स्पष्ट किया जा रहा है।

अ) आध्यात्मिक दृष्टिकोण :

(क) कृष्ण के वेणुनाद के समय गोपियाँ विविध गृहकार्यों में संलग्न थीं। कोई जेवनार कर रही थी; कोई बैठी थी; कोई घर में खड़ी हुई थी; कोई भोजन कर रही थी; कोई पति को भोजन करा रही थी; कोई शृंगार कर रही थी; कोई दूध दुह रही थी; कोई दूध को उबाल रही थी; कोई पुत्र को दूध पिला रही थी; कोई पति-सेवा में लग रही थी। लेकिन कृष्ण का वेणु-नाद सुनते ही जो जैसी थी वह वैसी ही दौड़ पड़ी। इस आतुरता में किसी का चरणों में हार लिपटा था; कोई चौकी को भुजाओं में दबाये हुए थी; कोई अंगिया कटि में पहने हुए थी; कोई छाती पर लहंगा धारण कर गयी। कृष्ण से मिलकर वे बड़े आनंद से कभी नाचने, कभी गाने और कभी कोक-विलास करने लगीं।

कृष्ण से मिलने केलिए गोपियों में जो आतुरता है, वह जीव की परमात्मा से मिलने की ही आतुरता है। कृष्ण से मिलकर गोपियों का नाचना, गाना, कोक-विलास करना आदि जीव के परमात्मा से मिलकर आनंदानुभूति प्राप्त करने को सूचित करता है। इस प्रकार यहाँ कृष्ण परमात्मा के और गोपियाँ जीव की प्रतीक हैं। वेणुनाद उस शब्द का प्रतीक है जो सारे विश्व में व्याप्त है और जो जीव रूपी गोपियों और परमात्मा रूपी कृष्ण को एक समान धरातल पर प्रतिष्ठित करता है।

रास-मण्डल में गोपियों की संख्या के अनुरूप ही कृष्ण ने रूप धारण किये। अतः हर गोपी के साथ एक कृष्ण मण्डलाकार रूप में थे। साथ ही मंडल के मध्य राधा और कृष्ण युगल रूप में उपस्थित थे। कृष्ण और राधा नृत्य करते हुए एक दूसरे से ऐसे अभेद हो रहे थे मानों एक प्राण, दो शरीर हों या भक्ति और प्रीति मिलकर एक हो गये हों—

प्रान इक, है देह कीन्हे, भक्ति-प्रीति-प्रकास।
सूर-स्वामी स्वामिनी मिलि, करत रंग-विलास।[1]

[1] सा०. 1700

इसी प्रकार मंडल में कृष्ण सब गोपियों को भी मिलन-सुख देकर उनके साथ मणि-कंचन के समान एक रूप हो रहे थे—

विच गोपी, विच मिले गुपाल । मनि कंचन सोभित सुभ माल ।।[1]

कृष्ण तथा गोपियों की इस अभिन्नता के आधार पर रासलीला जीव एवं परमात्मा की मिलन-प्रतीक मानी जा सकती है ।

(ख) रासलीला के मध्य में गोपियों तथा राधा को गर्व हुआ कि कृष्ण उनके वश में हैं । उनके गर्व को देखकर कृष्ण अदृश्य हो गये । कृष्ण के वियोग में जब उनका गर्व छूट गया तभी कृष्ण ने प्रकट होकर उन्हें सुखी किया । इस दृष्टि से रासलीला जीव के अहं के छूटने पर उनसे परमात्मा के मिलने की प्रतीकात्मकता को स्पष्ट करती है ।[2]

(ग) कृष्ण शब्द-ब्रह्म हैं । गोपियां वेद की ऋचायें हैं । जिस प्रकार शब्द और अर्थ का नित्य संबंध है, उसी प्रकार ऋचा रूपी गोपियों और शब्द-ब्रह्म-कृष्ण का संबंध भी नित्य है । इसी का नाम नित्य रासलीला है ।

(घ) 'गो' का अर्थ है इंद्रिय । अतः गोप या गोपी का अर्थ हुआ इंद्रियों की रक्षा करनेवाला । कृष्ण आत्मा के प्रतीक हैं जो वंशी-ध्वनि से गोपियों को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं । जिस प्रकार इंद्रियां एक मन, एक प्राण होकर अंतरात्मा में मग्न हो जाने की तैयारी करती है, वैसे ही गोपियां वंशी-ध्वनि से कृष्ण की ओर चलती हैं । इनके पास रासलीला का नृत्य आता है जो अपनी तरंगों द्वारा गोपियों को कृष्ण-सामीप्य प्राप्त करा देता है । सामीप्य का अनुभव अपनी शक्ति और अहम्मन्यता का स्फुरण करता है । अतः पूर्ण मग्नता की दशा नहीं आ पाती । आत्मप्रकाश पर अहंकार का आवरण छा जाता है । पर जैसे ही कृष्ण रूपी आत्मज्योति अंतर्हित होती है आत्म-मग्न होने की प्रेरणा तीव्र हो उठती है और अहंकार विलीन हो जाता है । अहंकार के नष्ट होते ही पार्थक्य के समस्त बंधन छिन्न-भिन्न हो जाते हैं । मनोवृत्तियां आत्मा में विलीन हो जाती है, गोपियां कृष्ण के साथ महारास रचने लगती हैं । यही है आत्मा का पूर्णानंद में लीन होना ।[3] इस प्रकार रासलीला आत्मा के पूर्णानंद में लीन होने की प्रतीक है ।

[1] सा०, 1702

[2] श्री भगवत्तत्व, श्री करपात्र जी, पृ० 218

[3] भारतीय साधना और सूर साहित्य, पृ० 208

(ङ) रासलीला के समय सुहावना वातावरण था। शरच्चंद्रिका थी। यमुना का तट मल्लिका मनोहर था। त्रिविध पवन बह रहा था। वेणुनाद ने चारों ओर आह्लादमय वातावरण प्रस्तुत किया था। प्रकृति की इस सुरम्यता के आधार पर हम उसे रसमयता की प्रतीक मान सकते हैं। कृष्ण ब्रह्म हैं। ब्रह्म रस रूप हैं। अतएव कृष्ण रसरूप हैं। राधा रसात्मक सिद्धि की प्रतीक हैं। गोपियां रसात्मक सिद्धि करानेवाली शक्तियों की प्रतीक हैं। रासलीला में प्रकृति, कृष्ण राधा और गोपियां समान रूप से भाग लेती हैं। अतः रासलीला रसमय प्रकृति, रस रूप कृष्ण, रससिद्धि रूपी राधा तथा रससिद्धि की शक्ति रूपी गोपियां—इन सभी के सामरस्य की प्रतीक हैं।

आ) योगपरक दृष्टिकोण

श्री बलदेवप्रसाद मिश्र ने रासलीला का योगपरक प्रतीकार्थ इस प्रकार प्रस्तुत किया है—"अनहद नाद ही भगवान की वंशी-ध्वनि है, अनेक नाड़ियाँ ही गोपियाँ है, कुल कुण्डलिनी ही श्री राधा हैं और मस्तिष्क का सहस्र दल कमल ही वह सुरम्य वृन्दावन है जहाँ आत्मा और परमात्मा का सुखमय सम्मिलन होता है तथा जहां पहुँचकर ईश्वरीय विभूति के साथ जीवात्मा की संपूर्ण शक्तियाँ सुरम्य रास रचती हुई नृत्य किया करती हैं।"[1] संक्षेप में सहस्रदल कमल के स्थान पर नाड़ियाँ, अनाहद, कुंडलिनी—सब एक रस हो जाती हैं और परब्रह्म की योगपरक अनुभूति होने लगती है। यही समाधि की दशा है। इसे प्राप्त करना ही गोपियों का लक्ष्य है।

लेकिन डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा ने योग-क्रिया और रासलीला के कुछ उपकरणों का अन्तर इस प्रकार बताया है— गोपियों की अपरिमित संख्या शरीर में व्याप्त असंख्य नाड़ियों से समानता रखती हैं। जहां तक राधा की आह्लादिनी-शक्ति और कुंडलिनी शक्ति का संबंध है, उनमें एक विशेष अन्तर है। कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति की अनेकानेक रूपगत अभिव्यक्तियाँ 'गोपियां'—ये सब क्रियात्मक हैं। परन्तु कुंडलिनी तो एक सुप्तप्राय शक्ति है जिसे साधक जागृत करने का अनुष्ठान करता है। इसी प्रकार वंशी-ध्वनि और अनाहद नाद में भी अन्तर है। अनाहद एक विशिष्ट जटिल योगपरक क्रिया से उत्पन्न वह नाद है जो इन्द्रियों को अग्राह्य है। परन्तु वंशीनाद कृष्ण के 'रूप' का आश्रय लेकर समस्त ऐन्द्रिय व्यापारों

[1] कल्याण, निबन्ध : रासलीला मे आध्यात्मिक तत्त्व, वर्ष 6, अगस्त 1931, पृ० 194

को क्षण-भर में एकात्म कर लेता है और इस प्रकार तल्लीनता की पराकाष्ठा तक पहुँच जाता है।"[1]

इस प्रकार डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा ने रासलीला को भिन्न प्रकार की योग-क्रिया बतायी है जिसे डॉ० वीरेन्द्र सिंह ने 'प्रेम-योग' की संज्ञा दी है।[2] योगपरक प्रतीक शुद्ध ज्ञानपरक होता है जबकि रासलीला प्रेमपरक है। इस स्थिति में रासलीला को योगपरक प्रतीकात्मकता की दृष्टि से समझने पर उसे प्रेम-योग के रूप में समझना अधिक उपयुक्त लगता है। अतः रासलीला प्रेम-योग की क्रिया-प्रतीक है।

ङ) वैज्ञानिक दृष्टिकोण

(क) **सूर्य मंडल की रचना के अनुसार :** ऋग्वेद में विष्णु देवता के जो विशेषण हैं, वे ही आगे चलकर भक्ति-संप्रदायों में कृष्ण के लिए प्रयुक्त किए गए। कृष्ण वैदिक विष्णु एवं सूर्य के विकसित रूप हैं। सूर्य की रश्मियां अनन्त हैं जिन्हें वेदों में 'गोप' कहा गया है। अतः कृष्ण ही गोप हैं और गोपी तारका है। इसके अतिरिक्त वेदों में कृष्ण से संबंधित अनेक ऐसे नक्षत्रों के नाम हैं, जो या तो गोपियों के या प्रमुख महिषियों के ही नाम हैं। ऐसे नक्षत्र हैं—अनुराधा, रोहिणी, सुभद्रा, तारका, ललिता, ज्येष्ठा, चित्रा, चन्द्रावलि आदि। सूर ने भी जिन गोपियों का उल्लेख किया है, उनके अधिकाँश नाम नक्षत्रों के नामों से मिलते हैं। इन नक्षत्र रूपी गोपियों को कृष्ण लीलाओं में स्थान प्राप्त है। अतएव ब्रज मे सम्बन्धित अनेक लीलाओं का किसी-न-किसी रूप से सम्बन्ध सूर्य (के प्रतिबिंब), तारों तथा नक्षत्रों से जोड़ा जा सकता है।

सूर्य-मंडल में सूर्य ही वह केन्द्र है जिसके चारों ओर ग्रह परिक्रमा करते हैं। सूर ने इस कृष्ण-रवि को रास मध्यस्थ और गोपी-ग्रहों को मंडलाकार चित्रित कर यही तथ्य प्रकट किया है। सूर्य-मंडल की गतिविधि का प्रतीकात्मक प्रदर्शन ही यह रासलीला है। जिस प्रकार सूर्य और नक्षत्रों के अन्योन्याकर्षण से उनके मध्य संतुलन रहता है, उसी प्रकार रासलीला में कृष्ण ही वह केन्द्रस्थ शक्ति है जिसकी ओर गोपियां आकर्षित हैं। जिसप्रकार सूर्य मंडल में एक गति है उसी प्रकार रास में

[1] सूरदास, डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, पृ० 209–10

[2] हिंदी काव्य में प्रतीकवाद का विकास, डॉ० वीरेंद्र सिंह, पृ० 378

एक गतिवद्धता है, जिस प्रकार सूर्य अपनी तेजशक्ति से अभिन्न है उसी प्रकार कृष्ण अपनी अंतरंग शक्ति राधा से अभिन्न है। इसप्रकार राधा सूर्य की तेजस् शक्ति की प्रतीक है। सूर ने भी इस तथ्य की ओर संकेत किया है —

ब्रज जुवति चहूं पास, मध्य सुन्दर स्याम,
राधिका वाम, अति छवि विराजे।[1]

जिस प्रकार 'शब्द' अथवा आकाश तत्त्व से सौर-मंडल को एक गतिवद्धता प्राप्त होती है, उसी प्रकार कृष्ण की वंशी-ध्वनि से संपूर्ण सृष्टि तल्लीनता एवं गतिबद्धता को प्राप्त करती है। जो महाभूत आकाश है वही वृंदावन है। इस प्रकार कृष्ण सूर्य के, राधा सूर्य की तेजस् शक्ति की, गोपियाँ नक्षत्रों की, वंशी-ध्वनि शब्द की और वृंदावन महाभूत आकाश का प्रतीक है। इस विवेचन के आधार पर हम रासलीला को सूर्यमंडल की गतिविधि की प्रतीक समझ सकते है।[2]

(ख) **परमाणु सिद्धांत के अनुसार :** परमाणु सिद्धांत के अनुसार परमाणु का केन्द्र केन्द्रक (Nucleus) होता है। उसकी चारों ओर ऋणाणु (Electrons) परिक्रमा करते रहते है। उनकी कक्षा निश्चित है। एक परमाणु दूसरे की कक्षा में अतिक्रमण नही करता। केन्द्रक के अंतर्गत अनेक शक्तितत्त्व निहित माने जाते है जिन्हे प्रोटान, न्यूट्रान और पाजिट्रान कहते है। परमाणु की इस रचना और रास-लीला की गति-विधि में समानता है। जिस प्रकार केन्द्रक परमाणु का केन्द्र है, उसी प्रकार कृष्ण रास-मण्डल के मध्यस्थ हे। जिस प्रकार ऋणाणु केन्द्रक की परिक्रमा करते है, उसी प्रकार गोपियां कृष्ण के चारो ओर स्थित हैं। परमाणु के बीच जो शक्ति-तत्त्व है वही रास-मंडल की राधा है। इस प्रकार कृष्ण केन्द्रक के; गोपियाँ ऋणाणुओं की और राधा प्रोटान, न्यूट्रान और पाजिट्रान की सम्मिलित शक्ति की प्रतीक है। जिस प्रकार परमाणु की विस्फोटक शक्ति ऋणाणु के क्रियात्मक रूप पर अवलंबित है, उसी प्रकार कृष्ण की प्रसारिणी शक्ति (लीला) भी राधा तत्त्व तथा गोपी नामक शक्तियों से विस्तार पाती है। इम प्रकार रामलीला परमाणु की इस अनंतता की प्रतीक भी हो सकती है।[3]

1 सा०, 1653
2 हिंदी काव्य मे प्रतीकवाद का विकास, डॉ० वीरेंद्रसिंह, पृ० 379
3 वही, पृ० 380

5. पनघट लीला

गोपियां पनघट के लिए निकलती हैं। कृष्ण पनघट को रोके रखते हैं : किसी की गगरी को ढुलकाते हैं : किसी की गेंडुरी फेंक देते हैं : किसी की गगरी फोड़ देते हैं : किसी के चित्त की चोरी करते हैं : किसी को गाली देकर भागते हैं : किसी को गोद में लेते हैं : मुरली की तान से सबको रिझाते हैं। इसलिए गोपियां यमुना-जल को भर नहीं पातीं। वे कृष्ण को देखते ही वापस लौटती हैं। यहां गोपियां जीवात्मा की, पनघट संसार का एवं कृष्ण परमात्मा के प्रतीक हैं। संसार के प्रति उन्मुख जीवों को परमात्मा के द्वारा विभिन्न ढंगों से अपनी ओर आकृष्ट करना ही पनघट लीला की प्रतीकात्मकता है।

प्रारम्भ में जीव परमात्मा और जगत् दोनों की ओर क्रम-क्रम से आकृष्ट होता रहता है। पनघट लीला द्वारा परमात्मा के प्रेम-रंग से छकी आत्मा रूपी गोपिकाओं के पैर घर की ओर बढ़ते ही नहीं।[1] लेकिन जब परिस्थिति का ज्ञान होता है, वे जल्दी से घर की ओर दौड़ पड़ती हैं।[2] इस प्रकार प्रेम-लक्षणा-भक्ति की प्रारम्भिक अवस्था के दुविधा-भाव का पनघट-लीला में दर्शन होता है।

परमात्मा जीवों को संसार से विमुख करने का प्रयत्न करते हैं। कभी-कभी जीव उनके इस प्रयत्न को समझ नहीं पाते। गोपियां भी परमात्मा कृष्ण के इस प्रयत्न को न समझकर यशोदा से शिकायत करती हैं।[3] किंतु उनके इस प्रयत्न को समझने पर जब एक बार उनकी ओर आकृष्ट होती हैं तो वे उनके दर्शन केलिए अत्यन्त व्याकुल हो जाती हैं। कृष्ण भी उनके प्रति आकृष्ट दिखायी पड़ते हैं।

पनघट लीला सूरदास की दृष्टि में कृष्ण द्वारा व्रज की युवतियों के लिए ही की गई लीला है। जीव जिस भाव से परमात्मा को भजता है उसी भाव से परमात्मा उन्हें मिलता है। सूर इस तथ्य का उल्लेख करते हैं --

> यह लीला सब स्याम करत हैं, व्रज–जुवतिनि कैं हेत।
> सूर भजै जिहिं भाव कृष्न कौं, ताकौ सोइ फल देत।[4]

[1] पग द्वै जाति ठठकि फिरि हेरति, जिय यह कहति कहा हरि कीन्ही॥ सा०. 2068

[2] घर गुरुजन की सुधि जब आई।
तब मारग सूझ्यो नैननि कछु, जिय अपने तिय गई लजाई॥ वही, 2069

[3] वही, 2038

[4] वही, 2050

परमात्मा द्वारा जीव को संसार की ओर से हटाकर अपनी ओर पूर्ण रूप से उन्मुख कर लेने की स्थिति की ओर भी कवि ने संकेत किया है --

> दृढ करी धरी अब यह बानि ।
> * *
> लोक-लज्जा काँच किरचैं स्याम-कंचन खानि ।
> * *
> मोहिं तौ नहिं और सूझत, बिना मृदु मुसुक्यानि ।
> * *
> इहैं कहि हौ और तजिहौं, परी ऐसी आनि ।
> सूर प्रभु परिवर्त्त राखौं, मेटि कै कुल-कानि ॥[1]

उस स्थिति में गोपियां कृष्ण-प्रेम और संसार-प्रेम दोनों के यथार्थ रूप को समझ पाती है ।

6. दान लीला

सूरदास की दधि-दान लीला में गोपियां जीव की, कृष्ण परमात्मा के और दधि-दान पूर्ण समर्पण का प्रतीक है । आत्मा और परमात्मा के मिलन की जो प्रक्रिया माखन-चोरी-लीला मे प्रारम्भ हुई थी, वह चीरहरण और रास लीला में क्रमशः पूर्णता की ओर बढ गयी । दधि-दान-लीला में आकर अपनी पूर्णता को पहुँचती है । प्रारम्भ की तीन लीलाओं में गोपियां रूपी जीव एक-एक स्थिति को त्यागते हुए कृष्ण रूपी परमात्मा के निरन्तर निकट आते जाते है । दधि दान लीला के द्वारा गोपियो में जो कुछ भी अहकार शेष रह गया है उसकी समाप्ति और कृष्ण को अपने आप में संपूर्ण रूप मे दे देना ही अभिप्रेत है । कवि ने स्वयं अनेक पंक्तियों में इस प्रतीकात्मकता की ओर संकेत किया है । गोपियो के प्रेम-भाव के साथ उनमें वर्तमान अहंमूलक गर्व को देखकर कृष्ण दधि-दान-लीला का निश्चय करते हैं—

> अब दधि दान रचौं इक लीला ।
> जुवतिनि संग करौ रस-क्रीला ।[2]

[1] सा०, 2077
[2] वही, 2078

गोपियों में अहं है, अभिमान है। इसलिए वे तर्क करती हैं, शिकायत करने का अवसर देती हैं और दान देने में आनाकानी करती हैं। इस पर कृष्ण ईश्वर की व्यापकता और जीव की उस पर पूर्ण निर्भरता का संकेत इन शब्दों में करते हैं —

> गाउँ हमारौ छाँड़ि, जाइ बसिहौ किहिं केरैं।
> तीनि लोक मैं कौन, जीव नाहिंन बस मेरैं ॥[1]

कृष्ण ने दान केलिए जिन वस्तुओं की सूची[2] गिनायी है, उससे स्पष्ट है कि वे परमात्मा के रूप में भक्तों से मानसिक एवं शारीरिक दोनों ही तरह का पूर्ण समर्पण चाहते हैं—

> प्रथम जोबन-रस चढ़ायौ, अतिहिं भई खुमारि ॥
> दूध नहिं, दधि नहीं, माखन नहीं, रीतौ माट।
> महा रस अँग अँग पूरन, कहाँ घर, कहँ बाट ॥[3]

दानलीला का सुख कृष्ण और गोपी दोनों को ही समान रूप से मिलता है और गोपी उसकी अधिकारिणी तभी होती है जब कि कृष्ण रूपी ब्रह्म को अपने हृदय में दृढ़ता के साथ छिपा लें। गोपियों ने कृष्ण को अपने हृदय लौटाने केलिए जो उलाहना दिया है उस उलाहने में ही वह वरदान छिपा है जो कि गोपी रूपी आत्मा को अभीष्ट है—

> मन-भीतर है दान हमारौ।
> हमकौं दै नहिं तुमहिं छपायौ, यह तौ दोष तुम्हारौ ।[4]

इस व्याख्या के अनुसार सूर की दधि-दान लीला परमात्मा के प्रति आत्मा के संपूर्ण भाव से समर्पण की प्रतीक है।

[1] सा०, 2079

[2] लैहौं दान इनहिं कौ तुम सौं।
मत्त गयंद, हंस हम सौं है, कहा दुरावति हम सौं ॥
केहरि, कनक-कलस अमृत के, कैसे दुरैं दुरावति ॥

* * *

नायक, चाप, तुरग, बनि जाति हौ, लिये जाइ तुम जाहु।
चंदन, चंवर, सुगंध, जहाँ तहँ, कैसे होत निबाहु ॥ सा० 2167

[3] वही, 2242

[4] वही, 2234

7. निष्कर्ष

कृष्ण लीला प्रतीकों की पीछे हुई व्याख्या से लीला प्रतीकों की कुछ सामान्य विशेषतायें दृष्टिगत होती है। वे इस प्रकार हैं—

1. कृष्ण की लीलाओं की प्रतीकात्मकता पौराणिक आधार के अतिरिक्त आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि आधारों पर भी स्पष्ट की जा सकती है और ऊपर के विवेचन में विभिन्न लीलाओं के प्रसंग में उसमें दिखायी देनेवाले सभी क्षेत्रों को विवेचन केलिए स्वीकार किया भी गया है। फिर भी सब लीलाओं की सभी दृष्टियों से व्याख्या नहीं की जा सकती।

2. कृष्ण लीलाओं में कृष्ण, राधा तथा अन्य प्रमुख पात्रों के वेद, पुराण, उपनिषदों में लीला-स्वरूप का अन्य ज्ञान के क्षेत्रों के साथ समन्वय हो जाने से प्रतीकार्थों की संभावना बहुत बढ़ गयी है।

3. कृष्ण की लीलायें दो प्रकार की हैं—शिवत्वपरक और मधुर लीलायें। शिवत्वपरक लीलाओं का आधार लोक-मानस है जहाँ कृष्ण को भगवान् मानकर उनके द्वारा लोक कल्याणकारी कार्य कराने की भावना बद्धमूल है। कृष्ण द्वारा मारे गये सभी असुर कृषक-क्षेत्र के ही असुर हैं। काग, बक, धेनुक, वृषभ, केशी आदि पशु-पक्षी तथा शकट, तृणावर्त आदि कृषक-जीवन से संबंधित है। इनके भयंकर रूप में होने पर इनके प्रति असुर भावना की कल्पना लोक-मानस में सभी कालों मे वर्तमान रही है। कृष्ण के द्वारा इन कृषि-शत्रुओं का हनन भी लोक-मानस द्वारा दिया गया शिवत्वपरक रूप है।

मधुर लीलाओं का आधार प्राचीन परंपरा से सूर को प्राप्त हुआ था। वेद, महाभारत, पुराण तथा संस्कृत के कृष्ण संबंधी ग्रंथ सूरदास की कृष्ण लीलाओं के आधार रहे। यद्यपि मुख्य आधार श्रीमद्भागवत का था तथापि सूर ने अन्य संदर्भों से भी सामग्री लेकर पूरी प्राचीन परंपरा का प्रतिनिधित्व किया है।

4. शिवत्वपरक लीलाओं में व्याप्ति और विस्तार कम ही है; क्योंकि वे लोक-मानस की उपज है। उनका एक ही रूप लोक-मानस में था और उसी की सीधी-सादी व्याख्या सूरसागर में हुई।

मधुर लीलाओं का आधार परंपरा थी जिसमें कृष्ण, राधा तथा अन्य प्रमुख पात्रों के स्वरूप में विभिन्नतर भावों से विभिन्न तत्त्व समय-समय पर जुड़ते गये और उन्होंने लीलाओं को पर्याप्त व्याप्ति और व्यापक आधार दे दिया था उसी आधार पर सूरसागर में भी इन लीलाओं का वर्णन व्यापक पृष्ठभूमि को लेकर हुआ है।

5 आधार संकीर्ण अथवा सीमित होने के कारण तथा लीलाओं की संक्षिप्तता के कारण शिवत्वपरक लीलाओं में प्रतीकों की संख्या भी कम दिखायी देती है जब कि माधुर्यपरक लीलाओं में विस्तार के साथ-साथ प्रतीकों की संख्या भी पर्याप्त बढ़ी है।

6. सूरसागर में लोक-पक्ष का एक प्रकार से अभाव है, फिर भी कृष्ण लीलाओं में लोकपक्ष का जो समावेश हो चुका था, उसका परंपरा-निर्वाह केलिए सूरदास ने भी वर्णन किया और उसी कारण इस पक्ष में भी कुछ प्राचीनता होने के कारण प्रतीकात्मकता का समावेश दिखायी देता है। वास्तव में यह सूर का अभीष्ट वर्ण्य-विषय नहीं है, केवल परंपरा-पालन मात्र है।

5 लीला परिकर प्रतीक

1. लीला परिकर परिचय

परिकर का अर्थ है व्याप्ति, विस्तार, क्षेत्र, अथवा घेरा। इस दृष्टि से परिकर के अन्तर्गत वे वस्तुयें आ जाती हैं जो अन्य किसी एक ही वस्तु से सम्बन्धित है। कृष्ण लीला के संदर्भ में परिकर के अन्तर्गत उनकी लीलाओं से सम्बद्ध पात्र, स्थान, नदी, पशु, वस्तुयें तथा अन्य वे सब उपकरण आ जाते है जो कि लीला करने में सहायक होते है। कृष्ण लीला में कृष्ण, गोप, गोपी, नंद-यशोदा, देवकी आदि पात्र; गोकुल, बृन्दावन आदि स्थान; यमुना नदी, गायें; तथा मुरली, लकुटी, कमली आदि वस्तुये—सबका अपना महत्त्व तथा उपयोग है। अतः इन सभी को लीला परिकर के अन्तर्गत रखकर विवेचन किया जा रहा है।

2. लीला परिकर प्रतीकों का वर्गीकरण

कृष्ण लीला परिकर के पाँच प्रकार बताए गए है। वे सब कृष्ण की विभिन्न लीलाओं से सम्बद्ध है और लीलाओं की प्रतीकात्मकता स्वीकृत है। अतः उनकी प्रतीकात्मकता पर भी उन्हीं कोटियों के अन्तर्गत विचार करना अभीष्ट होगा।

3. प्रतीक-विवेचन

(अ) पात्र-प्रतीक

1. कृष्ण

वैदिक साहित्य में कृष्ण के प्रारभिक स्वरूप पर प्रकाश डालनेवाले जो

बिखरे संकेत प्राप्त होते हैं, उनसे कृष्ण के वास्तविक स्वरूप को स्थिर करने में सहायता नहीं मिलती। इस कारण हमें वैदिक देवता 'इंद्र' की धारणा का सहारा लेना पड़ता है क्योंकि कृष्ण उस विष्णु के अवतार माने जाते हैं जो स्वयं इंद्र के विकसित रूप हैं।

विष्णु का विकास

1. इंद्र से प्राप्त तत्त्व : वैदिक साहित्य में इंद्र को परमात्मा, आत्मा, वीर, विद्युत्, विभीषण आदि नामों से संबोधित किया गया है। पाणिनि की अष्टाध्यायी टीका में इंद्र को इंद्रियों का शासक कहा गया है। इंद्र से ही इंद्रियों को शक्ति मिलती है, ज्ञान मिलता है। अतः इंद्र यहां आत्मा है।[1] ऐतरेयोपनिषद् में इंद्र की व्युत्पत्ति 'इंदेद्र' से मानी गई है जो परमात्मा का नाम है। लोक में ईश्वर 'इंदेद्र' नाम से प्रसिद्ध हैं। पर ब्रह्मवेत्ता उसे परोक्ष रूप से (व्यवहार में) इंद्र कहकर पुकारते हैं।[2] इसी प्रकार इंद्र अनुरहंता, प्राण, महाबली, प्रजास्वामी आदि नामों से अभिहित किया गया है। इस प्रकार इंद्र आध्यात्मिक रूप में 'एक महान् योद्धा' था। इन तीनों तत्त्वों का समाहार विष्णु में प्राप्त होता है जब स्वयं वेदों में इंद्र का स्थान विष्णु ने ग्रहण किया। इसके अतिरिक्त इंद्र के अनेक नाम तथा विशेषण जैसे हरि, केशव, पति आदि विष्णु के विशेषण भी माने गए। वेदों में 'विष्णु गोपा अदब्धः' कहा गया है। इससे विष्णु का संबंध गायों से भी मालूम पड़ता है।

2. सूर्य से प्राप्त तत्त्व : सूर्य का महत्त्व वेदों में ही नहीं, उपनिषदों में भी मिलता है। प्रश्नोपनिषद् में सूर्य को अमृत, अभय एवं परागतिवाला माना गया है जहाँ जाकर कोई भी आत्मज्ञानी नहीं लौटता।[3] छांदोग्यउ पनिषद् में सूर्य को ब्रह्म कहा गया है।[4] विष्णु भी परमात्मा माना गया है। यह सूर्य के ब्रह्मत्व का रूपांतर-सा मालूम पड़ता है जिसमें सूर्य के ब्रह्मत्व का विष्णु के परमात्मा में समन्वय भी संभावित है।[5] वेदों में विष्णु का 'सूर्य' के नाम से अभिहित होना इस संभावना को निश्चयात्मकता की दशा मिलती है।

[1] वैदिक साहित्य, राम गोविन्द त्रिवेदी, पृ० 378–79
[2] ऐतरेयोपनिषद्, अध्याय 1, खंड3, पृ० 63 श्लोक 14 (उप० भा० खंड 2)
[3] प्रश्नोपनिषद्, पृ० 22, प्रश्न 1, श्लोक 10 (उप० भा० खंड 1)
[4] छांदोग्य उपनिषद्, अध्याय 3, खंड3 19, पृ० 60, श्लोक 1, (उप० भा० खंड 3)
[5] कठोपनिषद्, अध्याय 1, वल्ली 3, पृ० 90, श्लोक 9 (उप० भा० खंड 1)

इस प्रकार वेदों में विष्णु का इंद्र तथा सूर्य की सापेक्षता में महत्त्व बढ़ने पर उनमें ये तत्त्व मिलते हैं—

1. अपना गोपाल रूप, 2. इंद्र तथा सूर्य से प्राप्त परमात्मा अथवा ब्रह्मत्ववाला रूप, 3. इंद्र से प्राप्त देवता रूप और 4. इंद्र से प्राप्त योद्धा (पराक्रमी) और असुर संहारक रूप।

विष्णु का नारायण के रूप में विकास: ब्राह्मणकाल के अन्त तक विष्णु के नारायण रूप को परम देवता माना जाने लगा। नारायण को नर-प्रकृतिस्थ सगुण ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया जाने लगा और नारायण एवं विष्णु की एकता की स्थापना हो गई।

नारायण का वासुदेव अथवा वासुदेव कृष्ण के रूप में विकास : महाभारत तथा उसके पीछे के अनेक ग्रंथों में वासुदेव का पद ईश्वरता के संबंध में बढ़ा और नारायण से उनका एकाकार हो गया। महाभारत में वासुदेव के स्वरूप के संबंध में ये संकेत मिलते हैं—"जो नित्य अजन्मा और शाश्वत है, जिसे त्रिगुणों का स्पर्श नहीं, जो आत्मा प्राणिमात्र में साक्षीरूप से रहता है, जो चौबीस तत्त्वों से परे पच्चीसवाँ पुरुष है ; जो निस्पृह होकर ज्ञान से ही जाना जा सकता है, उस सनातन परमेश्वर को वासुदेव कहते हैं। वह सर्व व्यापक है। प्रलयकाल में पृथ्वी जल में लीन होती है, जल अग्नि में, तेज वायु में, वायु आकाश में और आकाश अव्यक्त प्रकृति में और अव्यक्त प्रकृति पुरुष में लीन होती है। फिर उस वासुदेव के सिवा कुछ भी नहीं रहता। पंच महाभूतों का शरीर बनता है और उसमें अदृश्य वासुदेव सूक्ष्म रूप से तुरंत प्रवेश करता है। यह देहवर्ती जीव महा समर्थ है और शेष तथा संकर्षण उसके नाम हैं। इस संकर्षण से मन उत्पन्न होकर सनत्कुमारत्व अर्थात् जीवन्मुक्तता पा सकता है।"[1]

पतंजलि ने वासुदेव को वृष्णिवंशीय माना है। बौद्धों के 'घटजातक' और 'महाजातक की व्याख्या' में उपलब्ध सामग्री के अनुसार वासुदेव काण्हायन अथवा कृष्णायन गोत्र के थे।[2] इसी कारण वासुदेव वासुदेव कृष्ण कहे गये।

वासुदेव कृष्ण में वैदिक कृष्ण के गुणों का आरोप : ऐसा प्रतीत होता है कि जब वासुदेव कृष्ण को उपास्य रूप में ग्रहण किया गया है तो वैदिक पात्र कृष्ण

[1] सूर और उनका साहित्य, डॉ० हरवंशलाल शर्मा, पृ० 120

[2] द्रष्टव्य, वही, पृ० 1222

4. कृष्ण के लिए द्रौपदी द्वारा प्रयुक्त 'गोपीजनप्रिय' विशेषण वृंदावन में गोपियों के बीच जीवन व्यतीत करना सूचित करता है।

इस प्रकार महाभारत में कृष्ण के पाँच रूप हमारे सामने आते हैं— 1. वेदवेदांगवेत्ता, 2. राजनीति विशारद, 3. कुशल योद्धा, 4. धर्मोपदेष्टा और 5. गोपालक। ये पांचों रूप महाभारत में इस ढंग से प्रस्तुत किये गये हैं कि जिससे कृष्ण के चरित्र में ईश्वरत्व की भावना का समावेश हो सके। एक स्थान पर भीष्म ने उनकी ईश्वर के रूप में स्तुति की है। इससे स्पष्ट है कि महाभारत काल में कृष्ण चरित्र में ईश्वरत्व की भावना का समावेश आरम्भ हो गया था। किन्तु फिर भी उनका मानवीय रूप सुरक्षित था।

श्रीमद्भगवद्गीता में कृष्ण का स्वरूप : श्रीमद्भगवद्गीता में कृष्ण ब्रह्म के साथ एकाकार दिखाये गये है। वे सब प्राणियों के अंदर रहनेवाली आत्मा है। वे जगत् को धारण करनेवाले आत्मस्वरूप हैं। इस प्रकार भगवद्गीता में वासुदेव कृष्ण के परमात्मा रूप का वर्णन हुआ है। इसके अतिरिक्त अर्जुन को कृष्ण ने जो उपदेश दिया है, उसमें उनका उपदेशक रूप स्पष्ट होता है।

वासुदेव कृष्ण के विकास में आदिम जातियों का योगदान : आभीरों में 'बालदेवी' या 'बालदेवता' की उपासना प्रचलित थी। बालदेवता के विषय में यह भी कहा गया है कि उसका जन्म नीच घराने में हुआ और पालन-पोषण एक दूसरे कल्पित पिता के यहाँ हुआ, जिसे यह ज्ञान था कि वह उसका अपना बच्चा नहीं है और उसके बहुत से निरीह भाइयों की हत्या हो चुकी है। इस 'बालदेव' या 'बालदेवी' की कल्पना कृष्ण-कथा से अद्भुत साम्य रखती है। इसी कारण आगे चलकर आभीर संस्कृति का लोक मे विकास होने पर कृष्ण के परंपरागत स्वरूप में गोपाल रूप तथा बालरूप के तत्त्व भी जुड़ गये। फलतः कृष्ण के लीलारूप का विकास हुआ।

पुराणों में कृष्ण का स्वरूप : प्रायः सभी पुराणों में कृष्ण कथा का वर्णन मिलता है; कहीं संक्षेप में और कहीं विस्तार से। भागवत और ब्रह्मवैवर्त्त पुराणों में कृष्णकथा का वर्णन विस्तार से किया गया है। उनमें कृष्ण को परब्रह्म स्वरूप मानते हुए उन्हें अलौकिक पुरुष कहा गया है। किन्तु फिर भी उनके चरित्र-वर्णन में उनकी बाल्यकालीन और विशेष रूप से किशोरकालीन लीलाओं को अधिक महत्त्व दिया गया है। इसके विपरीत महाभारत के कृष्ण का राजनीतिज्ञ और योद्धा रूप यहाँ बिलकुल गौण हो गया है। ब्रह्मपुराण तथा विष्णुपुराण में भी पूतना-वध,

शकट भंजन, यमलार्जुन पतन, गोवर्द्धन धारण, रासलीला आदि अनेक बाल्य एवं किशोरकालीन लीलाओं का वर्णन मिलता है। हरिवंश पुराण में यद्यपि कृष्ण विष्णु के अवतार के रूप में चित्रित किये गये हैं, तथापि उसमें कृष्ण के लौकिक पक्ष की ओर ही अधिक ध्यान दिया गया है। उसमें कृष्ण के ऐश्वर्य-रूप की भोगविलास संबंधी अनेक कथायें अधिक विस्तार से वर्णित हैं। इस प्रकार पुराणों में कृष्ण के लीला और ब्रह्मत्ववाले दोनों रूप दिखायी पड़ते हैं।

संप्रदायों में कृष्ण का स्वरूप : निंबार्क संप्रदाय के अनुसार आनंदांश स्वरूप पुरुषोत्तम ने ही भक्तों को आनंद देने के लिए श्री कृष्ण स्वरूप में अवतार धारण किया है। वे स्वयं ब्रह्म हैं। वे कारणों के कारण, ईश्वरेश्वर, दोनों के देव, ब्रह्म-रुद्रादिकों के गुरु और उन्हें उत्पन्न करनेवाले हैं। वे आत्माराम हैं। वे आत्मा रूपी राधा में नित्य रमण करते हैं।

चैतन्य संप्रदाय में श्रीकृष्ण परमतत्त्व माने गये हैं। इसमें श्रीकृष्ण ही परमाराध्य हैं। उनकी अनंत शक्तियाँ होती हैं। उन शक्तियों का शक्तिमान के साथ तर्क से न भेद ही स्थापित किया जा सकता है और न अभेद ही।

वल्लभ संप्रदाय में वेदांत के भगवान् परब्रह्म कृष्ण माने गये हैं। वे सच्चिदानंद रूप हैं। उनकी प्राप्ति केवल भक्ति-भाव से ही हो सकती है। वे रस रूप हैं। वे ज्ञानगम्य नहीं हैं।

राधा-वल्लभ संप्रदाय में श्रीकृष्ण नित्य विहारी पुरुष माने जाते हैं। राधा उनकी पराप्राकृतिक आह्लादिनी शक्ति है। जीव रूपी सखियाँ ही उनकी सहचरियाँ हैं। श्रीकृष्ण का संबंध नित्य विहार और वृन्दावन लीलाओं से है।

इस प्रकार ऊपर के सभी सम्प्रदायों में पुराणों के समान कृष्ण के ब्रह्मत्व और लीलावाला दोनों स्वरूपों की व्याख्या हुई है। लेकिन सब सम्प्रदायों में लीला-गान को प्रमुखता देकर उनके ब्रह्मत्व की ओर संकेत मात्र से व्यंजना की गई है।

वैदिककाल से लेकर विभिन्न संप्रदायों तक आते-आते कृष्ण के स्वरूप में हुए विकास का ऊपर जो वर्णन हुआ है, वह 'विकास-वृक्ष' के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

सूरसागर में वर्णित कृष्ण का स्वरूप : सूरसागर मे कृष्ण के विविध रूप मिलते हैं। विनय के पदों में वे दीनों के रक्षक, पतित पावन, दयासागर, कृपा-निधान, भक्तवत्सल, अद्भुत तथा अलौकिक शक्ति से संपन्न तथा सर्वशक्तिमान हैं। सखा के रूप में वे स्निग्ध हृदयवाले हैं। वे उदात्त सखा हैं। उनका आकर्षक तथा

स्नेही स्वभाव है। वात्सल्य भाव के आलंबन के रूप मे उनके व्यक्तित्व में असीम सौंदर्य, बालसुलभ सुकुमारता और क्रीड़ारत बालक की चपलता है।

सूर ने वल्लभाचार्य जी की भाँति श्रीकृष्ण को विरुद्ध धर्माश्रय माना है। उन्होंने श्रीकृष्ण को एक ओर सनातन, अविनाशी, पूर्ण ब्रह्म कहकर उनका निर्गुणत्व प्रकट किया है तो दूसरी ओर 'ताहि जसोदा गोद खिलावै' कहकर उनका सगुणत्व भी सूचित किया है।[1] सूर ने कृष्ण की जो बाल तथा शृंगार लीलाओं का वर्णन किया है, उनमें हम उनके लीला रूप के दर्शन करते है।

कृष्ण की प्रतीक-योजना

महाभारत तथा पुराणों में कृष्ण के जिस स्वरूप की स्थापना हो चुकी थी, पुष्टिमार्ग के कवियो द्वारा उसे सांप्रदायिक भावना के अन्तर्गत भी न्यूनाधिक रूप से उसी रूप मे ग्रहण किया। सूरदास ने सूरसागर में कृष्ण को ब्रह्म तथा लीला रूप दोनों का ही प्रतीक माना है। इन रूपो की प्रतीकात्माकता को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कृष्ण के तीन रूपो की ओर सकेत किया है—परब्रह्म, लीलावतारी तथा भक्तवत्सल। विनय और भक्ति के पदो मे उनके परब्रह्म रूप की निराकार वाची शब्दो से व्याख्या करके उनके भक्तवत्सल रूप को चित्रित किया है। अन्य स्थानो पर उन्हे निर्गुण बताते हुए उनके सगुण रूप मे अवतार लेने की बात कही है जैसे कि—

अ) सूरदास प्रभु ब्रह्म सनातन, सो सोवत नद-धामहिं।[2]
आ) अच्युत रहै सदा जलसाई। परमानन्द परम सुखदाई।[3]

अन्य भक्त कवियो के समान कृष्ण के भक्तवत्सल रूप का दिग्दर्शन कराते हुए सूर ने उनके लीला रूप का प्रमुख उद्देश्य अधर्म का नाश और भक्तो का उद्धार बताया—

सुरदास प्रभु ताप निवारन, हरत संत दुख पीर के।[4]

[1] आदि सनातन, हरि अविनासी। सदा निरन्तर घट-घट बासी।
गुन-गुन-अगम, निगम नहि पावै। ताहि जसोदा गोद खिलावै।
सा०, 621

[2] वही, 1133

[3] वही, 621

[4] वही, 3682

हमारे देवताओं के साथ एक मूल शक्ति अथवा देवी की कल्पना सदैव रही है। विष्णु के अवतारों में इसी क्रिया-शक्ति का रूपांतर हुआ है। कृष्णावतार के साथ इस शक्ति का रूपांतर राधा के रूप में हुआ है। अतः कृष्णावतार के सन्दर्भ में राधा को उसी क्रिया-शक्ति-तत्त्व के प्रतीक रूप में देखते है। यही शक्ति तत्त्व विष्णु के रूप के साथ जुड़कर श्री अथवा लक्ष्मी रूप का संकेत देता है। कालांतर में विष्णु के अवतारों के साथ संलग्न सभी शक्तियों के लिए 'श्री' अथवा 'लक्ष्मी' शब्द प्रचलित हुआ।

2. पाँचरात्र के तत्त्व

पांचरात्र में शक्ति का मानवीकरण 'श्री' या 'लक्ष्मी' के रूप में प्राप्त होता है। पांचरात्र में कहा गया है कि वासुदेव के अन्दर प्रथम शक्ति 'ईक्षण' का बीज उत्पन्न हुआ। यह वासुदेव की स्वशक्ति 'ईक्षण' ही शक्ति तत्त्व का द्योतक है। भगवान् वासुदेव की क्रियात्मक शक्ति ही सुदर्शन चक्र कहा गया है जो नारायण का प्रतीक है। 'पांचरात्र में लक्ष्मी रूपा शक्ति को जगत् की योनि भी कहा गया है जो स्पष्ट रूप से लक्ष्मी के मिथुनपरक एवं सृष्टिपरक तथ्य की ओर संकेत है'।[1] आगे चलकर लक्ष्मी का यह रूप राधा की भावना में सबल योग प्रदान कर सका।

3. पुराणों के तत्त्व

अ) **श्रीमद्‌भागवत :** इसमें राधा का नामोल्लेख भी नहीं हुआ है। कुछ विद्वान् भागवत के द्वितीय स्कंध के एक श्लोक[2] में राधा का केवल नाम आया बताते हैं। अतएव इसमें राधा के स्वरूप के सम्बन्ध में कोई संकेत भी नहीं मिलता है।

आ) **मत्स्य पुराण :** इसमें राधा पुराण-तंत्रादि में वर्णित बहुतेरे देव-देवियों में एक देवी मानी गई है। सावित्री पुष्कर में सावित्री, वाराणसी में विशालाक्षी, द्वारावती में रुक्मिणी और वृन्दावन में राधा है।

इ) **स्कंध पुराण :** इसमें राधा कृष्ण की आत्मा मानी गयी है। वह कृष्ण को आनन्द देनेवाली है।

[1] श्री राधा का क्रमिक विकास, शशिभूषणदास गुप्त, पृ० 28

[2] नमोनमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वतां विदूर काष्ठाय मुहः कयोगिनम्।
निरस्त साम्या विपयेन राधसा स्वधामिनि ब्रह्मणि रस्मते नमः॥
अध्याय 4 श्लोक 14

श्रीकृष्ण के सदृश ही सौंदर्य-सम्पन्न-हर्ष से सुशोभित है। वह श्रीकृष्ण की आह्लादिनी तथा प्राणेश्वरी है। उसकी शक्ति व ऐश्वर्य से गोपियां, महिषियां और लक्ष्मी तथा हजारों सखियां उत्पन्न होकर सेवा करती है।

आ) सहजिया मत : सहजिया मत के अनुसार प्रत्येक जीव में राधा-कृष्ण का निवास माना जाता है। दाहिना नेत्र साधक का श्याम-कुण्ड है और बायां नेत्र राधा-कुण्ड है। इसी विश्वास के आधार पर चण्डीदास ने सौंदर्य-माधुरी की प्रतीक प्रेम स्वरूपिणी नारी में राधा-तत्त्व के आस्वादन का उदाहरण प्रस्तुत किया है। उसकी सहज साधना मे गृहीत परकीया नायिका राधिका स्वरूप है। राधा के चरित्र-चित्रण में परकीयावाद का प्रभाव कदाचित् सहजिया वैष्णवों की ही देन है।

इ) चैतन्य सम्प्रदाय : चैतन्य के अनुसार राधा कृष्ण के अखंड आनन्द का अंश है। इसलिए वह ईश्वर की ह्लादिनी शक्ति है।[1] इस सम्प्रदाय में राधा का जो परकीया भाव स्वीकार किया गया है वह प्रतीकात्मक मात्र है क्योंकि परकीया भाव का ग्रहण काम-सम्बन्धों के आधार पर न होकर शुद्ध आध्यात्मिक धरातल पर किया गया है।

ई) वल्लभ सम्प्रदाय : डॉ० दीनदयाल गुप्त के अनुसार वल्लभ सम्प्रदाय में राधा भगवान् के आनंद की पूर्ण सिद्धि शक्ति है। सिद्धि शक्ति राधा और कृष्ण का सम्बन्ध चंद्र और चाँदनी का है। भगवान् की रस शक्तियों के बीच रस की सिद्धि शक्ति राधा स्वामिनी रूपा है। भगवान् रस शक्तियो के बीच पूर्ण रसशक्ति स्वरूपा राधा के वश मे रहते है।[2]

उ) राधा वल्लभ सम्प्रदाय : इसमे राधा ही सर्वोपरि है। उसके आदेश-निर्देश पर ही श्री कृष्ण चलते है। उसका चरण-रज ब्रह्मेश्वरादि को भी दुर्लभ है। वह परम लावण्य की निधान है और वेदो से भी परम गुप्तनिधि है। इसी कारण इसमें राधा स्वयं आनन्दस्वरूप मानी गयी है।

5. लौकिक परंपरा के तत्त्व

जब सम्प्रदायगत राधा की भावना पर लौकिक परंपरा का प्रभाव पड़ा, तब राधा सहज तरलता तथा अल्हड़पन के साथ काव्य की भावभूमि को आलोकित

[1] राजर्षि अभिनदन ग्रंथ, लेख : वैष्णव भक्ति संप्रदाय में राधा, लेखक. डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, पृ० 232

[2] अष्टछाप और वल्लभ सप्रदाय, डॉ० दीनदयाल गुप्त, पृ० 505–6

कर सकी । लौकिक परंपरा में राधा का प्रमुख व्यक्तित्व आभीर जाति के लोक-गीतों, प्रेम गीतों और कुछ लिपियों में यदाकदा प्राप्त होता है। राधा के इस व्यक्तित्व की निर्मिति में प्राचीन साहित्यिक रूप प्राकृतिक गाहा सत्तसई एवं भट्टनायक कृत 'वेणी संहार' का भी योग है। गाहा सत्तसई में राधा कृष्ण की प्रियतमा कही गयी है। उसमें राधा के व्यक्तित्व की दो विशेषतायें मिलती हैं- 1. उनका अप्रतिम सौंदर्य और 2. प्रेम प्रवणता।

सूरसागर में वर्णित राधा का स्वरूप

सूरसागर में सूरदास ने राधा का चरित्र अत्यन्त उज्ज्वल प्रेम और सौंदर्य की साक्षात् मूर्ति के रूप में चित्रित किया है। राधा सूरदास के चित्रण में कृष्ण से अभिन्न उनकी माया रूपिणी आह्लादिनी शक्ति के रूप में मान्य होते हुए भी अत्यन्त स्वाभाविक मानवीय रूप में चित्रत है।

श्रीकृष्ण के प्रेम को अधिकाधिक प्राप्त करने में प्रयत्नशीला राधा की प्रेम विकलता और व्यवहार कुशलता उसके चरित्र को अत्यन्त प्रभावशाली और आकर्षक बना देती है। बाल्यावस्था का आकर्षण पारिवारिक, सामाजिक बाधाओं का अति-क्रमण करते हुए उस स्थिति को पहुंच जाता है कि राधा अत्यन्त प्रेम-विवश, अधीर और कातर हो जाती है। फिर भी वह कृष्ण के आदेश से अपने प्रेम को गुप्त रखती है। इसी कारण उसके आचरण में अत्यन्त गूढ़ता और रहस्यमयता का समावेश हो जाता है। राधा की प्रेम-विकलता उस समय और भी मार्मिक हो जाती है जब वह मिलन में भी विरह का अनुभव करती है। अन्त में वियोग की अग्नि में तपकर जब उसके अहंभाव का सर्वथा परिहार हो जाता है और वह सर्वभावेन आत्मसमर्पण कर देती है, तभी उसे श्रीकृष्ण का संयोग सुख प्राप्त होता है।

सूरदास ने रासलीला के अन्तर्गत वनभूमि के स्वच्छंद वातावरण में राधा-कृष्ण के विवाह का भी वर्णन किया है। उसके बाद राधा और कृष्ण दाम्पत्य भाव से प्रेम करते हुए चित्रित किये गये हैं। प्रेम की परिपूर्णता की स्थिति में राधा की महत्ता इतनी अधिक हो जाती है कि स्वयं श्रीकृष्ण उसके विरह में व्याकुल, उसके प्रेम की याचना करते हुए चित्रित किये गये हैं।

संयोग के समय राधा का शरीर और मन सौंदर्य शोभा और हर्षोत्साह का आगार है। किन्तु कृष्ण से विमुक्त हो जाने पर उसके शरीर की कांति अत्यन्त मलिन हो जाती है और उसका मन खिन्नता और आत्मग्लानि से परिपूर्ण हो जाता

है। उसकी वाणी मूक हो जाती है। उसका प्रेम गूढ से गूढ़तर वन जाता है। उसके स्वभाव की चंचलता समाप्त हो जाती है और वह अत्यन्त गम्भीर वन जाती है।

इस प्रकार हम देखते है कि सूरसागर में राधा के प्रतीक रूप में मुख्यत: तीन तत्त्वों का समाहार प्राप्त होता है – एक पौराणिक साहित्य का। दूसरा भक्त संप्रदायों के आचार्यो का और तीसरा लौकिक आख्यानों का पुराणतत्त्व के अनुसार सूरदास की राधा ब्रह्म की शक्ति; सांप्रदायिक धारणा के अनुसार राधा लीला का कारण और लीला का अंग तथा लौकिक आख्यानों के आधार पर वह कृष्ण की प्रेयसी है जिसमें स्वकीया का आरोप किया गया है।

3. गोपियां

गोपियों के पूर्व-जन्म के सम्बन्ध में पुराणकार एकमत नही हैं। पद्मपुराणकार के अनुसार उग्रतपा, सत्यतपा, जावालि आदि तपस्वी मुनियों ने ही गोपियों का रूप धारण किया था।[1] वामन पुराणकार का कथन है कि अष्टवक्र मुनि के शापग्रस्त अप्सराओं ने ही गोपियों का जन्म लिया है।[2] सूरदास[3], वल्लभाचार्य[4] तथा कृष्णोपनिषदकार[5] ने ऋचाओं का गोपियों के रूप में अवतरित होना वतलाया है।

सूरदास ने गोपियों को राधा का अंश वताया है।[6] पद्मपुराणकार का भी यही विचार है।[7] राधा से गोपियों के इस सम्बन्ध के आधार पर गोपियाँ राधा की अंतरंगिनी स्फूर्तियों की प्रतीक मालूम पड़ती है।

सूरदास ने श्रीकृष्ण तथा गोपियों को अभिन्न बताया है। इस दृष्टि से गोपियों की प्रतीकात्मकता श्रीकृष्ण की प्रतीकात्मकता पर निर्भर हो जाती है। नीचे श्रीकृष्ण के प्रतीकेय तथा तत्संबंधी गोपियों के प्रतीकेय दिये जाते है––

श्रीकृष्ण के प्रतीकेय	गोपियों के प्रतीकेय
आत्मा	वृत्तियाँ
परमात्मा	जीव
शक्ति	उपशक्तियां

[1] पद्मपुराण, पातालखंड, अध्याय 72
[2] वामनपुराण, पाँचवा खड, अध्याय 38
[3] व्रज सुन्दर नहिं नारि, रिचा श्रुति की मव आही। सा०, 1793
[4] अस्मिन्नर्थंश्रुत्यन्तर रूपाणा गोपिकाना। सुबोधनी टीका
[5] गोप्योगाव भत्चस्तस्य - - - - -। श्लोक 9
[6] सोरह सहस पीर तन एक राध्र जिव सव देह। सा० 2627
[7] पद्मपुराण. पातालखण्ड, अध्याय 70, श्लोक 4

गोपियाँ प्रेमाभक्ति की मर्मज्ञा और प्रवर्तिकायें हैं। प्रेमा-भक्ति-पद्धति के समग्र रहस्यों का उद्घाटन और उनकी साधनात्मक परिणति गोपियों के माध्यम से ही हुई। इस साधना से प्रभावित होकर उद्धव जैसे ज्ञानी योगी ने भी अन्ततः उनको गुरु रूप में स्वीकार किया है।[1] इस प्रकार गोपियाँ प्रेम-साधना की प्रतीक हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर गोपियों का दुहरा प्रतीकत्व सिद्ध होता है। आध्यात्मिक दृष्टि से वे जीवात्माओं या परमशक्ति राधा की स्फूर्तियों के रूप में चित्रित हैं। एक विशिष्ट साधना-पद्धति का प्रतीकत्व भी उनके व्यक्तित्व में प्रतिफलित हो जाता है। लोक मर्यादा निरपेक्ष प्रेमाभक्ति का चरम विकास गोपी प्रतीक में अंतर्निहित है।

गोपियों की साधना महारास में चरम लक्ष्य की उपलब्धि करती है। जो जीवात्माएं आध्यात्मिक केंद्र से केंद्रापसारी होकर लौकिक परिधियों तक जाती हैं, वे रास में शब्द-ब्रह्म की प्रेरणा पाकर फिर केंद्राभिसारी हो जाती हैं। अभिसरण के पश्चात् कृष्ण और गोपियाँ अविच्छेद्य रूप में रमणरत होती हैं। काल गति अवरुद्ध हो जाती है। जीवात्मा रूपी प्रियतमा परमात्मा रूप प्रियतम की सन्निधि प्राप्त करती है।

रासलीला के पूर्व चीरहरण प्रसंग में गोपी रूप जीवात्माएं भगवद् प्रेरणा से मर्यादा के आवरण से मुक्त होती हैं। मर्यादा का आवरण हटते ही सांसारिक मोह और संबंधों के बंधन टूट जाते हैं और गोपियाँ निर्द्वन्द्व भाव से परमतत्त्व की ओर अभिसरण करती हैं। यह स्थिति अन्य विभिन्न लीलाओं में होते हुए भी प्राप्त होती है।

4. गोप

गोप पूर्व-जन्म में देवता[2] तथा ऋचायें[3] कहे गये हैं। कृष्ण के साथी गोपों ने कृष्ण की अनेक लीलाओं में महत्त्वपूर्ण भाग लिया है।

[1] तुम मम गुरु मैं दास तुम्हारो।
भक्ति सुनाइ जगत निस्तारो। सा०, 4714

[2] अ) गोप जाति प्रतिच्छन्ना देवागोपाल रूपिणा:। भागवत, 10-28-2
आ) यह बानी कहि सूर सुरन को अब कृष्णावतार।
कह्यो सबनि ब्रज जन्म लेहु संग हमरे करहु विहार॥ सा० 2222

[3] गोप्योगाव ऋचस्तस्य। कृष्णोपनिषद्, श्लोक 9

गोप गायो की रक्षा करनेवाले ग्वाल ही नही, वल्कि ज्ञान रूपी पवित्र दूध की रक्षा करने वाले है ।[1] अर्थात् वे ज्ञान के रक्षक के प्रतीक हे । 'गो' के अन्य अर्थ भी है— 1. रश्मि, 2. इद्रिय । इन अर्थो के आवार पर गोप सूर्य या इद्रियो के पतन से रक्षा करनेवाले के प्रतीक हे ।

जिस प्रकार ऋचा रूपी गोपिया प्रेमाभक्ति की साधना मे लीन हो जाती हैं, उसी प्रकार ज्ञान के प्रतीक गोप सख्य भावापन्न हो जाते हे। गोचारण की परिस्थिति में सख्य भावना की साधना विकसित होती हुई चरमोन्मुख होती है ।

5. वलराम

अवतार कल्पना की दृष्टि से वलराम शेष के प्रतीक है ।[2] शेष का अवतार रामावतार के साथ लक्ष्मण के रूप मे और कृष्णावतार मे वलराम के साथ हुआ । सभवत: नागपूजा के अवैष्णव विधान का यह वैष्णवीकरण है । वलराम की मूर्तियां भी प्राय: शेष के फनो की छाया मे प्रतिष्ठित की जाती है । शेषावतार को उद्धत स्वभाव का होना ही चाहिए । लक्ष्मण भी उद्धत स्वभाव के थे और वलराम भी । वलराम के उद्धत स्वभाव को व्यक्त करनेवाली अनेक घटनाये सूरसागर मे मिलती है । एक वार वे यमुना से शीघ्र आने के लिए कहते है,[3] लेकिन यमुना उनकी आज्ञा का पालन नही करती । तव वलराम क्रोध मे आकर अपने हल से उसे अपनी ओर खीच लेते है और अपनी इच्छा के अनुसार उसके पानी को चारो ओर फेक डालते है ।[4] धेनुक के अपराध न होने पर भी वलराम उसके पैरों को पकड़कर, जोर से घुमाकर उसे पेड मे घुसा देते हे ।[5] इस उद्धत स्वभाव के आवार पर वे प्रकारांतर से तामसी प्रवृत्ति के भी प्रतीक माने जाते है । कृष्ण के वन्धु होते हुए भी वलराम के उद्देश्यो की पराजय कृष्णवृत्त मे दिखलाई गई है ।

[1] The gopas are not the keepers of 'cows', but the keepers of the sacred milk of knowledge
Tapovan Prasad, vol V, No. 6,
June 1967

[2] सेष रूप-मय राम कहत ·· ·· । सा०, 3710

[3] वोली वेगि चलौ ········ · ··· । वही, 4822

[4] हल करि खैंचि करौ नदि नारो । वही, 4822

[5] हाथ दोऊ वल करि जु चलाए ।

सांस्कृतिक दृष्टि से बलराम कृषि-संस्कृति-प्रधान युग के प्रतीक हैं। वे हल तथा मूसल का प्रयोग करते थे जो कृषि के साधन हैं। उनके कई नाम इन्हीं साधनों के आधार पर ही पड़े है। यथा—हलधर, संकर्षण, हलायुध, हलपाणि, लांगली, शंखधरण, मूसली आदि। उन्होंने सिचाई के उपयोग के लिए ही यमुना का प्रवाह बदल दिया। इस प्रकार बलराम कृषि-रक्षक के प्रतीक हो जाते हैं।

6. नंद

सूरसागर में नंद कृष्ण के जन्म एवं उनकी बाल-क्रीड़ाओं से आनन्द से भरे हुए एक पिता के रूप में चित्रित हैं। कृष्ण के जन्म के अवसर पर नंद इतने आनन्दित होते हैं कि किसी को चीर देते है[1] तो किसी को रेशमी वस्त्र[2]। वे ब्राह्मणों को दो लाख गायें देते हैं जो कामधेनु से किंचित् भी निम्न न हो[3]।

सोये हुए कृष्ण को देखकर नंद इतने खुश होते हैं कि उस छवि को अपनी पत्नी यशोदा को दिखाये बिना नहीं रह सकते[4]। कृष्ण को उलटकर गिरते और घुटनों के बल पर दौड़ते देखकर वे असीम आनन्द का अनुभव करते है[5]।

इस प्रकार कृष्ण की प्रत्येक क्रीड़ा से नंद के हृदय में आनन्द की लहरें उठने लगती है। अतएव नन्द आनन्द के प्रतीक हैं। कृष्णोपनिषद में भी वे परमानन्द बताये गये है[6]।

7. यशोदा

यशोदा मुक्तकांता है[7]। इसी कारण वह आनन्द के प्रतीक नन्द की पत्नी बन सकी और संसार की कोई घटना परमात्मा कृष्ण के प्रति उसके वात्सल्य भाव बनाये रखने में बाधा नहीं डाल सकी। कृष्ण की प्रत्येक छवि से, प्रत्येक बात से और प्रत्येक क्रिया से वह आनन्द विभोर होती है। कृष्ण की अलौकिक लीलाओं[8]

[1] एकनि कौं पहिरावत चीर। सा०, 643
[2] एकनि कौं भपन पाटंबर। वही, 643
[3] कामधेनु तैं नैंकु न हीनी, द्वै लाख धेनु द्विजनि कौं दीनी। वही, 650
[4] हरषे नन्द टेरत महरि। वही, 685
[5] कबहुँ उलटि चलै धाम कौं, घुटुरनि करि धावत।
सूर-स्याम-मुख-लखि महर, मन हरष बढ़ावत। वही, 740
[6] यो नन्दः परमानन्द। कृष्णोपनिषद्, श्लोक 5
[7] यशोदा मुक्तगेहिनी। वही, श्लोक 5
[8] द्रष्टव्य —

को देखकर भी उसका वात्सल्य भाव विचलित नही होता। इस प्रकार यशोदा मुक्ति की प्रतीक है।

8. देवकी

देवकी देवक की पुत्री थी।[1] उसे अदिति का अवतार भी बताया गया है जो देवताओं की माता समझी जाती है[2]। देवकी प्रकृतिरूपा है जिसके गर्भ से ब्रह्म रूपी कृष्ण का जन्म होता है। 'भौतिक माध्यम के बिना अनन्त शक्ति का जगत् में नाना रूपों में आविर्भाव नहीं हो सकता। जिस प्रकार संगीत लहरी बिना वीणा के माध्यम के व्यक्त नही हो सकती और जिस प्रकार विद्युत् शक्ति बिना डाइनिमो के अप्रकट ही रहती है उसी प्रकार अनन्त सत्ता का प्राकट्य महाभूतों के संघात पर निर्भर रहता है।'[3] अतः कृष्ण-जन्म की माध्यम होने के कारण देवकी को प्रकृति की प्रतीक मान सकते है।

सूरसागर में कृष्ण जन्म वाले पद में कृष्ण जन्म के हेतु की ओर संकेत करते हुए देवकी के इसी प्रकृतिरूपा स्वरूप की ओर कवि ने संकेत किया है—

सुनि देवकि, इक आन जन्म की, तोकौं कथा सुनाऊं।
तैं मांग्यौ, हौ दियौ कृपा करि, तुम सौ बालक पाऊं।[4]

यहां देवकी कृष्ण के अवतार का माध्यम ही है।

आ) स्थान प्रतीक

1. गोकुल

भगवान् का नित्य निजधाम गोलोक संज्ञक है। इस प्रकार परमतत्त्व की अलौकिक स्थिति 'गो' शब्द पर आधारित प्रतीकों से परिवेष्टित थी। जब भगवान् लीला केलिए भूलोक पर अवतरित होते है तो उनके साथ उनका नित्यलोक भी अवतरित होता है। गोकुल में गोलोक के अवतरित होने की कल्पना मिलती है। इस दृष्टि से गोकुल गोलोक का प्रतीक माना जा सकता है।

अ) पूतना-वध-लीला पद 672 आ) शकटासुर-वध लीला : पद 680 इ) कृष्ण का ऐसी मुद्रा धारण करना जिससे सृष्टि मे हलचल मच जाती है : पद 682 ई) तृणावर्त-वध-लीला : पद 695

[1] दुहिते देवक :। श्रीमद्भागवत, 10–1–32

[2] आदि-ब्रह्म-जननी, सुर-देवी, नाम देवकीबाला। सा०, 622

[3] Tapovan Prasad, Vol. V, No.8. August 1967, Back page

[4] सा०, 622

गोकुल कृष्ण की लीला-भूमि है। वहां कृष्ण की अनेक लीलायें घटी हैं। यथा—नामकरण, अन्नप्राशन, वर्षगांठ; पूतना, कागासुर, शकटासुर, तृणावर्त आदि का उद्धार। इसी करण गोकुल में सदा आनन्द विलसित रहता था। सूरसागर की अनेक उक्तियों से इस बात की पुष्टि होती है—

क) अति आनन्द होत गोकुल मैं।[1]

ख) आनन्द-मगन नर गोकुल सहर के।[2]

ग) अति आनन्द बढ्यौ गोकुल मैं।[3]

इसी कारण आनन्द के प्रतीक नन्द वहां रहते थे। इससे स्पष्ट है कि गोकुल आनन्द-निलय का प्रतीक है।

2. वृन्दावन

वृन्दावन नैसर्गिक सुन्दर था। वह सघन वृक्षों, लता-कुंजों और तुलसी के सघन गुल्मों से आवेष्टित था। वृक्ष चारों ओर थे और उनकी शीतल छाया थी। लता-कुंज अत्यन्त रमणीक थे। वहाँ दिन-रात सुगंधित, शीतल और मंद वायु बहती थी।

वृन्दावन यमुना के किनारे था। यमुना का जल निर्मल तथा अमृत के समान था। मल्लिका-मनोहर यमुना-तट अत्यन्त सुख प्रदान करता था। यमुना पतितों को पावन बनाती थी और सब पापों का नाश करती थी।

वृन्दावन में झरने बहुत ही स्वाभाविक ढंग से झरते थे। वहाँ के कुंजों के हरित तृणों से आच्छादित होने के कारण गायें अत्यन्त सुख तथा चैन से चरती थीं।

वृन्दावन अलौकिक दिव्य-धाम था। वहाँ सदा वसंत रहता था। वहाँ कमल, कुमुद, जाही, जूही, सेवती, करना, कनियारी, बेलि, चमेली, मालती, कूजा, मरुआ, कुंद, बकुल इत्यादि अनेक प्रकार के फूल फूले रहते थे। वहाँ भृंग, मृग, मयूर इत्यादि पशु-पक्षी रहते थे। वहाँ कोकिल कलरव करती थी।

वृन्दावन काम, क्रोध, लोभ, मोहादि दुर्गुणों का निवास-स्थल नहीं है। वहाँ नैसर्गिक वैर रखनेवाले प्राणी भी परस्पर प्रेम से रहते थे। वह बड़े लोगों तथा

[1] सा०, 639

[2] वही, 648

[3] वही, 651

अधिकार या धन के लिए निरंतर संघर्ष करनेवाले कुचक्री और लालची लोगों का स्थान नहीं है।

वृन्दावन की उपर्युक्त विशेषतायें सात्विक हृदय की विशेषताओं से साम्य रखती हैं। अतएव वृन्दावन सात्विक हृदय का प्रतीक है। नंददास ने भी वृंदावन को चित्त ही माना है।[1]

वृन्दावन लीलाधाम भी है। लीलाएँ सात्विक हृदय में ही सम्पन्न होती हैं। पौराणिक कथन की दृष्टि से वृन्दा नाम की किसी कन्या ने तपस्या की थी और यह वरदान माँगा था कि मैं निकुंज वन जाऊँ और मेरे भीतर श्रीकृष्ण सदैव लीला करते रहें। ऊपर के प्रतीक का यह मिथकीकरण है।

जिस प्रकार गोलोकधाम का प्रतीक गोकुल हो सकता है उसी प्रकार नित्य-लीलाधाम का प्रतीक वृन्दावन भी हो सकता है। सूर साहित्य में लीलाधाम वृन्दावन सात्विक हृदय और राधा की निकुंज भूमि के रूप में ही सिद्ध होता है।

इ) नदी प्रतीक

यमुना

यमुना कृष्ण-प्रिया है।[2] उसने अनेक संदर्भों में कृष्ण के प्रति प्रेम व्यक्त किया है। जब वसुदेव कृष्ण को गोकुल ले जा रहे थे तब यमुना ने उमड़कर[3] कृष्ण के पैरों का स्पर्श कर[4] युग-युगों से उनके प्रति रहनेवाले अपने प्रेम को प्रकट किया। दाढी द्वारा कृष्ण के बधावे के सन्दर्भ में भी यमुना ने अपना आनंद व्यक्त किया है।[5] यमुना और कृष्ण का यह प्रेम आत्मा और परमात्मा के प्रेम का प्रतीक है। इस दृष्टि से यमुना आत्मा की प्रतीक है।

योग-शास्त्र में यमुना पिंगला नाडी की प्रतीक है। कबीर ने भी उसे इसी रूप में ग्रहण किया है[6]। कृष्ण का यमुना को अपनी प्रेयसी बनाना योगिराज

[1] श्री वृंदावन चिद्घन कछु छबि बरनि न जाई।
नन्ददास ग्रंथावली, स. ब्रजरत्नदास, रास पंचाध्यायी, छंद 17

[2] कालिंदी है हरि की प्यारी। सा०, 4824

[3] बीच बही जमुना जलकारी। वही, 629

[4] चरन पसारि परसी कालिंदी, तरवा नीर तिरायो। वही, 622

[5] उमग्यौ जमुना-जल उछलि लहर के··· ········। वही, 648

[6] कबीर गंग जमुन के अंतरे सहज सुंन के घाट।
तहा कबीरै मठु कीआ खोजत मुनि जन बाट।
सन्त कबीर, सं० : डॉ० रामकुमार वर्मा, सलोकु 152

कृष्ण द्वारा पिंगला नाड़ी को स्वाधीन करने का प्रतीक है[1]।

ई) पशु प्रतीक

गायें

कृष्ण की गोचारण-लीला का सम्बन्ध गायों से है। श्री अरविन्द ने गो (गाय) के ये प्रतीकेय[2] बताये है— 1. सूरज की किरण, 2 ज्ञान तथा चेतनता, 3. प्रकाश, 4. पोषक या उन्नायक। वेदों में मेघ इंद्र की गाये कहे गये है।[3] इस दृष्टि से गाय मेघ की प्रतीक है। इसी आधार पर मन गोप कहा जाता है।

गाय पृथ्वी अथवा स्वर्ग की भी प्रतीक है।[4] सूर ने पृथ्वी को गाय के रूप में चित्रित किया है—

वृषभ धर्म, पृथ्वी सो गाइ।[5]

गोपालक संस्कृति में गाय जीवन का अभिन्न अंग थी। पंचगव्य जीवन के अत्यन्त उपयोगी पदार्थ हैं। इसी कारण गाय गोपालक संस्कृति की प्रतिनिधि पशु प्रतीक है। गाय की उपयोगिता के कारण जनता में उसके प्रति पूज्य भावना पनपी होगी। पूज्य भावना के कारण वह भगवती मानी जाती है। अपनी बात की सच्चाई का विश्वास दूसरों को दिलाने केलिए 'गौ की कसम खाने' के पीछे गाय के प्रति यही पूज्य भाव काम करता हे। सूरसागर में भी 'गौ की कसम खाने' का उल्लेख मिलता है—

सूर स्याम मोहि गोवन की सौं, हौं माता तू पूत।[6]

उ) वस्तु प्रतीक

1. मुरली

गोपाल कृष्ण के जीवन में मुरली का प्रमुख स्थान हे। इसी कारण सूर ने मुरली पर बहुत लिखा है। जब कृष्ण मुरली बजाते है तो उसके नाद मे सारी चराचर प्रकृति उनकी ओर आकृष्ट होती है—

[2] यमुना सम्बन्धी अन्य प्रतीकेयो के लिए देखिये, इसी प्रबन्ध का चतुर्थ अध्याय, कालिय-दमन-लीला प्रसंग

[3] Sri Aurobindo's Vedic Glossary, Compiled by A.B. Purani

[4,5] Encyclopaedia of Religions, Vol. I, P. 489

[6] सा०, 290

[7] वही, 833

जब हरि मुरली अधर धरत।
थिर चर, चर थिर, पवन थकित रहै, जमुना-जल न बहत।
खग मोहै, मृग-जूथ भुलाहीं, निरखि मदन छवि छरत।
पसु मोहै, सुरभी विथकित, तृन दंतनि टेकि रहत ॥[1]

मुरली ध्वनि से प्राप्त आनंद कहने-सुनने की वस्तु तो नहीं है, पर अनुभव करने की वस्तु अवश्य है—

महा मनोहर नाद, सूर, थिर चर मोहे, कोउ मरम न पावत।
मानहुँ मूक मिठाई के गुन, कहि न सकत मुख सीस डुलावत ॥[2]

कृष्ण गायों को हाँकने के लिए मुरली बजाते थे। यह उसका व्यावहारिक उपयोगितावादी पक्ष है। इसके अतिरिक्त उसका अनुभूत्यात्मक पक्ष भी है। संध्या के समय मुरली की ध्वनि से कृष्ण अपना आगमन सूचित करते हैं। यह ध्वनि गोपिकाओं के लिए दिनांतर विरह के पश्चात् चाक्षुष संयोग की ही सूचना है। कृष्ण के प्रत्यक्ष दर्शन के पूर्व ही गोपियों को इस मुरली की ध्वनि के माध्यम से 'स्मृतिगत' रूप का दर्शन हो जाता है। यही पर संयोग का उल्लास द्विगुणित हो जाता है।

शरद रात्रि में रास की भूमिका में मुरली रमण का आह्वान देती है। इस आह्वान से आंतरिक शक्ति का जागरण होता है और व्रजाँगनाएँ कुल-मर्यादा तथा लोक-लज्जा का परित्याग करके कृष्ण से महा-मिलन केलिए प्रस्तुत हो जाती है—

गृह गुरु-लाज सूत सो तोर्यौ, डरी नही व्यवहार।

* * *

सूरस्याम वन वेनु बजावत, चित हित-रास रमाइ ॥[3]

मुरली अपने नाद के प्रभाव से इतना महत्त्व अधिकृत कर लेती है कि कृष्ण उसके वश मे हो जाते है और वह उन पर अधिकार करती है।[4]

सूर ने मुरली को ब्रह्मा से भी बढ़कर सिद्ध किया है। ब्रह्मा चार मुख से उपदेश देते है, पर मुरली आठ मुखो (रंध्रो) से उपदेश देती है। ब्रह्मा का स्थान

[1] सा०, 1238
[2] वही, 1266
[3] वही, 1614
[4] वही, 1273

मुरली जड़ तथा अचेतन है; किन्तु जब भगवान् से वह बजायी जाती है तो उसके छिद्रों से ऐसा अलौकिक संगीत निःसृत होता है जो हरेक को आकर्षित करता है। इसी प्रकार मानव शरीर भी जड़ तथा अचेतन है। उसमें इंद्रिय रूपी छिद्र है। जब मन तथा बुद्धि इन्द्रियों को अच्छी तरह संचालित करते है तो उनके द्वारा चेतना व्यक्त होती है, जो हृदय के भीतर तथा बाहर एकता तथा शांति की स्थापना करती है।[1] मुरली तथा मानव-शरीर के इस कार्य-व्यापार के सादृश्य पर हम मुरली को मानव शरीर की; उसके छिद्रों को इंद्रियों के, भगवान को मन तथा बुद्धि के और सगीत को चेतना का प्रतीक मान सकते है।

इस प्रकार मुरली की प्रतीकात्मकता अनेक दृष्टियों से समझी जा सकती है।

2. लकुटी

लकुटी गोपाल कृष्ण के वेष का अभिन्न अंग है। सूर कृष्ण के गोपाल वेष की व्यंजना कराते समय लकुटी का उल्लेख करना भूले नही है—

अ) लकुट लियौ, मुरली कर लीन्हीं, हलधर दियौ विपान।[2]
आ) हाथ लकुट कामरि काँधे पर, बछरुन साथ डुलायौ।[3]

ऐसे प्रसंगों में लकुटी ग्वाल वेष की प्रतीक है।

लकुटी की सहायना से कृष्ण वन में गाय चराते है। गायों को घेरने, हांकने, लौटाने आदि कार्यो मे लकुटी की सहायता ली जाती होगी। साथ ही यह दिन-भर भटकनेवाले ग्वाल को विश्राम भी देती है क्योंकि उस पर अपने शरीर का बोझ डालकर वह कुछ थकावट दूर कर लेता है—

[1] "The flute, by it self, can not give out music. It is an inert, in sentient piece of matter. But when the Lord plays it, there emanates divine music which enchants every one. Similarly, the human body is, by it self, inert and insentient. It contains the sense organs and the mind and intellect through which the consciousness expresses itself and brings out divine harmony and peace both with in and without". The Tapovan Prasad, Vol. V, No.8, P.29.

[2] सा०, 1129

[3] वही, 4271

लकुट लपेटि लटकि भए ठाढ़े, एक चरन धर धारे।
मनहुँ नील-मनि खंभ काम रुचि, एक लपेटि सुधारे
कबहुँ लकुट तैं जानु फेरि लै, अपने सहज चलावत।[1]

कृष्ण, लकुटि और गाय चराना—इन तीनों के संयोग से प्रतीकात्मकता बनती है। उसके अनुसार कृष्ण आत्मा, गाय इंद्रियां और लकुटी सन्मार्ग पर ले जानेवाली है। सूरदास ने एक विनय-पद में लकुट के साथ रूपक[2] बांधते हुए उसे सुमति और सत्संगति बतायी है। उनके अनुसार आत्मा रूपी कृष्ण इंद्रिय रूपी गायों को सुमति और सत्संगति रूपी लकुट की सहायता से संसार रूपी वन में निर्भय और सानन्द चरा सकते हैं।

3. कमली

कमली गोपालक कृष्ण के वेष में प्रमुख स्थान ग्रहण करती है। कृष्ण उसे ओढ़कर वन जाते हैं। कमली उन्हें शीत से, वर्षा की बूँदों से एवं गर्मी से बचाती है।[1]

कृष्ण की कमली मामूली नहीं है, बल्कि विशेष शक्तियों से सम्पन्न है। एक बार गोपियां कमरी की निन्दा करती हैं तो कृष्ण उन्हें उसके महत्त्व को बताते हुए कहते हैं—

सो कमरी तुम निंदति गोपी, जो तिहुँ लोक अडंबर ॥
कमरी कैं बल असुर संहारे, कमरिहिं तैं सब भोग।[4]

वे उन्हे उसकी छाया में चौदह भुवनों को देखने की सलाह भी देते है।[5]

इन विवरण से स्पष्ट है कि कमली माया की प्रतीक है जो कृष्ण रूपी ब्रह्म को आच्छादित किए रहती है और गोपी रूपी जीवों को उनके सही रूप से विमुख रखती है और जिसका रंग काला है जिसमें सब रंग छिप जाते है।

[1] सा०, 1250
[2] नहि करि लकुटि सुमति-सतसंगति, जिहि अधार अनुसरौं। वही, 48
[3] वही, 2134
[4] वही, 2133
[5] वही, 2236

6 सांस्कृतिक प्रतीक

1. स्वरूप और व्याख्या

संस्कृति का संबंध मानव-विकास से है। उसके अध्ययन के द्वारा विकास की विभिन्न स्थितियों को समझा जा सकता है। विकास की इन स्थितियों को साँस्कृतिक इतिहास में विभिन्न शब्दों अथवा रूपों में व्यक्त किया गया है; और वे शब्द तथा रूप किसी समय-विशेष की साँस्कृतिक स्थिति के प्रतीक बन गए हैं। सांस्कृतिक प्रतीक-निर्माण के क्षेत्रों में लोक-जीवन के विश्वास, जीवन संबन्धी संस्कार तथा जीवन के आनन्द और उल्लास को व्यक्त करनेवाले उत्सव, त्यौहार आदि प्रमुख हैं। ये क्षेत्र संस्कृति के सम्पूर्ण स्वरूप को आच्छादित कर लेते हैं। लोक और वेद संस्कृति के दो प्रमुख पक्ष होते हैं। लोक के अन्तर्गत लौकिक मान्यताएं और विश्वास तथा वेद के अन्तर्गत प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों में स्वीकृत संस्कार, उत्सव, त्यौहार आदि आ जाते हैं। उत्सव तथा त्यौहार किसी विशिष्टयुग की साँस्कृतिक स्थिति को अभिव्यक्त करते हैं। अत: किसी काल विशेष की साँस्कृतिक स्थिति को जानने के लिए उस युग के लोक विश्वास, संस्कार तथा उत्सव एवं त्यौहार को समझ लेना आवश्यक होता है। सूरसागर के सांस्कृतिक प्रतीकों की व्याख्या केलिए हम इन्हीं दृष्टियों से उनके परीक्षण की चेष्टा करेंगे।

2. प्रतीकों का वर्गीकरण

प्रतीक-विवेचन के लिए हम सांस्कृतिक प्रतीकों को इन तीन कोटियों में विभाजित कर सकते हैं—

अ) लोक विश्वास संबंधी प्रतीक।
आ) संस्कार प्रतीक।
इ) उत्सव तथा त्यौहार प्रतीक।

3. प्रतीक-विवेचन

अ) लोक विश्वास संबंधी प्रतीक

लोक विश्वास का संबंध मानव की मूल प्रवृत्तियों के साथ है। मूल प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर मनुष्य वातावरण के साथ सामंजस्य स्थापित करना चाहता है। सामंजस्य स्थापित करने की बौद्धिक पद्धतियों के उदित होने के पूर्व वह अपने अनुभवों के आधार पर विश्वास को दृढ़ करता था। वे ही दृढ़ विश्वास परम्परा के रूप में परिणत हो गए और किसी-न-किसी रूप में बौद्धिक-रूप से विकसित अवस्थाओं में ही अपना अस्तित्व बनाये रहे। यही कारण है कि समस्त सभ्य जगत् में लोक विश्वासों का प्रचलन और उनकी मान्यता है। उन विश्वासों पर आधारित कुछ प्रतिक्रियायें होती हैं। ये प्रतिक्रियायें प्रतीकात्मक हो जाती हैं जो कभी क्रियात्मक, कभी रेखाकृति सम्बन्धी और कभी भाषापरक होती हैं।

लोक जीवन में ही नहीं, साहित्य के क्षेत्र में भी ये लोक विश्वास और उनसे सम्बद्ध प्रतीक प्रयुक्त होते हैं। साहित्य में प्रयुक्त होने पर ये शिल्प-योजना के भी अंग बन सकते हैं और वस्तु-योजना के भी। विशेष रूप से मध्यकाल की काव्य-परिधियों में इन तत्वों का विशेष प्रयोग मिलता है। आगे हम सूरसागर में प्रयुक्त लोक विश्वासों और तत्सम्बंधी प्रतीकों का सर्वेक्षण करने का प्रयत्न करेंगे।

1. दृष्टि-दोष और तत्सम्बन्धी प्रतीक : किसी व्यक्ति विशेष की दृष्टि के परिणामस्वरूप अनिष्ट की संभावना हो सकती है। बच्चों पर दृष्टि का प्रभाव अधिक और शीघ्र होता है। सहसा बच्चे का हँसना-खेलना और खाना पीना छोड़ देना, बार-बार रोना और मचलना अथवा सोते में चौंक उठना नजर लगने के चिह्न माने जाते हैं।

कन्हैया जब शाम से ही बिलखने लगता है और सोते-सोते बार-बार चौंक पड़ता है तब यशोदा तत्काल समझ लेती है कि उसे खेलते समय दृष्टि लग गयी है —

> जसुमति मन-मन यहै बिचारति।
> झझकि उठ्यौ सोवत हरि अबहीं,
> कछु पढ़ि-पढ़ि तन दोष निवारति।
> खेलन में कोउ दीठ लगाई,
>
> * * *

माँझहि तैं उतही विरुझानौ,
चदहिँ देखि करी अति आरति ।[1]

दृष्टि-दोष से बचानेवाले उपाय-प्रतीक : दृष्टि-दोष से बचाने केलिये प्रायः मातायें बच्चों के मस्तक पर डिठौना (काजल का टीका) लगा देती है; बच्चों के गले मे बघनखा[2] बाध देती है : बच्चो के ऊपर से राई-नोन उतारती है। यशोदा कन्हैया के दृष्टि-दोष निवारण के लिये इन सब उपाय-प्रतीको का उपयोग करती है—

1. सिर चौतनी डिठौना दीन्हौ, आँखि आँजि पहिराइ निचोल ।[3]
2. कठुला—कठ, वज्र केहरी नख; राजत रुचिर हिए ।[4]
3. कवहुं अंग-भूपन बनावति, राइ-लोन उतारि ।[5]

2. निछावर करना : किसी के रोगग्रस्त, अनिष्ट से पीड़ित अथवा आपदाओं मे फंसे हुए होने पर उसके सम्बन्धी लोग उसके ऊपर से रुपये, पैसे, वस्त्राभूपण आदि को निछावर करके ब्राह्मणो या याचको को दान देते है। विश्वास यह किया जाता है कि किसी व्यक्ति के दोप उस निछावर के साथ चले गए। इस प्रकार निछावर करना बुरी शक्तियो के प्रभाव के नाश का क्रिया-प्रतीक है। कृष्ण के तृणावर्त के आघात से बच जाने पर गोपियो उनके ऊपर से आभूषण निछावर कर देती है—

देति अभूपन वारि-वारि सब ।[6]

3. पानी उतारकर पीना : लोग यह विश्वास करते है कि बच्चों के ऊपर से पानी उतारकर पिया जाय तो बच्चे सब प्रकार के रोगो या अनिष्टों से निवृत्त होकर सुखी रहते और पानी पीनेवाले स्वय उनके रोगो या अनिष्टो के शिकार बन जाते है। यह काम वे ही कर सकते है जो स्वय रोग या अनिष्टो के शिकार होकर भी बच्चो को सुखी देखना चाहते है। पानी उतारना रोग या अनिष्टो को उतारने या दूर करने का क्रिया-प्रतीक है। पानी पीना प्रेमास्पद के रोग या अनिष्टो को ग्रहण करने का प्रतीक है।

[1] सा०, 818
[2] एक पोटली जिसमे नमक, मिर्च, भूसी, बघनख आदि होते हैं।
[3] वही, 712
[4] वही, 717
[5] वही, 736
[6] वही, 696

बलराम तथा श्रीकृष्ण के यज्ञोपवीत उत्सव के समय देवकी पानी उतारकर पीती है—

देवकी पियौ वारि पानी, दै असीस निहारनी ।[1]

रुक्मिणी से श्रीकृष्ण का विवाह होने पर, दोनों की मनोहर जोड़ी देखकर देवकी उनपर से पानी उतारकर पीती है जिससे दोनों सदैव सुखी रहें—

मातु देवकी परम मुदित ह्वै, देति निछावरि वारि ।[2]

4. **सयानों से हाथ दिलाना :** विश्वास यह किया जाता है कि सयानों से हाथ दिलाने पर बच्चों के रोग-वोग अथवा अनिष्ट भाग जाते हैं। इस प्रकार यह बच्चों के रोग-चोग अथवा अनिष्टों को भगाने का क्रिया-प्रतीक है। यशोदा ने कृष्ण को अनमना पाया तो वह उसे घर-घर हाथ दिलाते हुए चलती है—

देखौ री जसुमति बौरानी ।
घर घर हाथ दिवावति डोलति गोद लिए गोपाल बिनानी ।[3]

5. **झाड़-फूंक :** स्त्रियां झाड़-फूंक में विश्वास करती हैं। झाड़-फूंक रोग, अनिष्टा या विष के प्रभाव को दूर करने का प्रतीक है। सूर ने झाड़ू के द्वारा विष उतारने की बात लिखी है—

कहूं राधिका कारैं खाई, जाहु न आवौ झारि ।[4]

6. **मंत्र :** मंत्र भाषापरक प्रतीक हैं। इनके पीछे सुरक्षा तथा मनोकामना की पूर्ति की भावना निहित है। यशोदा बालकृष्ण को सोते-सोते चौंक पड़ते देखकर मंत्र पढ़कर उसके तन-दोष का निवारण करती है।[5] राधा के साँप से डसे जाने पर श्रीकृष्ण मंत्र पढ़कर उसके विष को उतार देते हैं।[6]

7. **शुभ शकुन :** ये भावी सुख या आनन्द के प्रतीक हैं। लोगों के विश्वास के अनुसार कुछ शकुन इस प्रकार हैं—

क) कभी-कभी अकारण ही स्त्री या पुरुष का चित्त प्रफुल्लित होना। सूर्य-ग्रहण के अवसर पर कुरुक्षेत्र से श्रीकृष्ण का बुलावा पाकर गोपियों का मन अनायास

[1] सा० 4805
[2] वही, 3712
[3] वही, 876
[4] वही, 1373
[5] वही, 818
[6] वही, 1373

गहगहा जाता है[1] जो थोड़ी देर बाद उनके माधव से मिलने का शुभ शकुन है।

ख) वन में वसन्त छा जाना, वृक्षों में पात लगना, बिना वायु के अंचल और ध्वज डोलना। सूर ने इस शकुन को भी उपर्युक्त प्रसंग में ही प्रयुक्त किया है।[2]

ग) पुरुषों के कुछ दाहिने और स्त्रियों के वाम अंगों (नेत्र, भुजा) का फड़कना और स्त्रियों के उर और अधर फड़कना। कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण से मिलने के पूर्व गोपियों के कुच, भुज, नैन और अधर फड़कने लगते हैं। इन प्रतीकों का सम्मिलित शुभ फल बताती हुई सखी राधा से कहती है—

आजु मिलावा होइ स्याम कौ, तू सुनि सखी राधिका।[3]

घ) मृगमाला का दाहिनी ओर दिखाई देना। जब अक्रूर बलराम और कृष्ण को लाने गोकुल जाने लगते हैं, तब उनकी रक्षा के लिए वे बहुत चिन्तित हो जाते हैं। इसी समय उन्हें दाहिनी ओर मृगों के दर्शन होते हैं। इस शुभ शकुन से उनकी चिंता मिट जाती है और समझ लेते हैं कि इसका परिणाम शुभ होगा।[4]

8. **अशकुन :** अशकुन आने वाले कष्ट या अनिष्ट के प्रतीक हैं। कुछ अशकुन ये हैं—

क) अकारण ही भूमि का काँपना, पर्वत शिखर का थर्राना, वृक्ष का उखड़ कर गिर पड़ना। सूरसागर में भूमि के कांपने का अशकुन मिलता है। युधिष्ठर को भूमि के काँपने के अशकुन से यादवों के क्षय-समाचार की पूर्व सूचना मिल जाती है।[5]

ख) किसी कार्यवश जाते समय स्वयं को छींक आ जाना या किसी का बायीं ओर से छींक देना। कृष्ण के कालीदह में फमने की पूर्व सूचना नन्द को घर में घुसते ही बायी ओर होनेवाली छींक से मिलती है।[6] दावानल की आपत्ति की पूर्व सूचना यशोदा को ऐसी ही छींक से प्राप्त होती है।[7]

ग) बैल, घोड़े और हाथी का रोना; दिन में स्यार बोलना; दाहिनी ओर

[1] सा०, 4896
[2] वही, 4895-96
[3] वही, 4895
[4] वही, 3565
[5] वही, 286
[6] वही, 1159
[7] वही, 1213

गदहे का रेंकना; कुत्ते का द्वार पर कान फटकाना; बिल्ली का रास्ता काटना। इस प्रकार के अशकुनों का प्रयोग सूरसागर के कालिय-दमन लीला[1] और श्रीकृष्ण के स्वर्गवास[2] के प्रसंगों में मिलता है।

ऊपर लोकविश्वास–प्रतीकों का जो विवेचन किया गया है, उससे स्पष्ट है कि सूर ने बाल लीला के वर्णन में इस प्रकार की सामग्री का विशेष उपयोग किया है। सूर का बालकृष्ण संदर्भ इस सामग्री के उपयुक्त भी है। सभ्यता से वंचित तथा शिक्षा के प्रभाव से दूर रहनेवाली गोप-ग्वालों की बस्तियों का वातावरण लोक प्रतीकों के बिना निश्चित रूप से अधूरा रहता। भोली भाली, बौद्धिक शृंखलाओ से अपरिचित, वात्सल्यनिरता यशोदा लोकविश्वासों पर अपनी दृष्टि केंद्रीकृत कर देती हैं। अपनी संतति की सुरक्षा भावना—जो स्वयं के अस्तित्व की रक्षा से भी महत्त्वपूर्ण है—से प्रेरित होकर यशोदा अनेक लोक प्रतीकों का सहारा लेती है। लोकप्रतीकों के इस विधान से सूर की वस्तु-योजना स्वाभाविक ही नहीं बन पड़ी है; अपितु उनके शिल्प तथा शिल्प के प्रभाव में भी मार्मिकता आयी है।

आ) संस्कार प्रतीक

संस्कार का अर्थ : संस्कार शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत की सम् पूर्वक, कृञ्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय करके की गई है (सम्+कृ+घञ्=संस्कार)। मीमांसक यज्ञांगभूत पुरोडाश आदि की विधिवत् शुद्धि को संस्कार मानते हैं। नैयायिक भावों को व्यक्त करने की आत्मव्यंजक-शक्ति को संस्कार समझते हैं। संस्कृत साहित्य में इसका प्रयोग संस्करण, परिष्करण, शुद्धि-क्रिया, धार्मिक विधि-विधान, अभिषेक, विचार, भावना, धारणा, क्रिया की विशेषता आदि अर्थों में हुआ है।[3]

इस प्रकार संस्कार का सम्बन्ध उन शुद्धि की धार्मिक क्रियाओं तथा व्यक्ति के दैहिक, मानसिक और बौद्धिक परिष्कार के लिए किये जानेवाले अनुष्ठानों से है, जिनसे संस्कार्य व्यक्ति के संपूर्ण व्यक्तित्व का परिष्कार, शुद्धि और पूर्णता हो सके।

जीवन में संस्कारों का स्थान : प्रारंभ में संस्कारों का निर्धारण केवल द्विजातियों केलिए ही हुआ था, ऐसा कुछ संस्कारों के सम्बन्ध में जाति विशेष के अनुसार आयु के निर्धारण से समझा जा सकता है। लेकिन कालांतर में जाति-व्यवस्था के छिन्न-भिन्न होने से, नीची समझी जानेवाली जातियों के प्रभुत्व प्राप्त

[1] सा०, 1158–59
[2] वही, 286
[3] हिन्दू संस्कार, डॉ० राजबली पांडेय. पृ० 18

करने पर सभी वर्गों में संस्कार प्रचलित हुए। संभवतः यज्ञोपवीत, वेदारंभ आदि कुछ ऐसे संस्कार, जो शुद्ध रूप में द्विजातियों के लिए ही थे, को छोड़कर शेष संस्कार अन्य जातियों में भी प्रचलित हुए। नामकरण, कर्णछेदन, विवाह और अंत्येष्टि जैसे संस्कार बहुत प्राचीन काल मे सभी वर्गों मे प्रचलित होते दिखाई देते है।

संस्कारों के प्रयोजन : संस्कारों के अनेक प्रयोजन है—

1. संस्कार जीवन की मुख्य घटनाओ को महत्त्व प्रदान करते है। वे लोगों को उनके प्रति जागरूक रहने का उपदेश देते है।

2. संसार मानवीय तथा अतिमानवीय शक्तियों से पूर्ण माना जाता है। संस्कार उन शक्तियों के अनुरूप मानव के व्यक्तित्व का परिष्कार करने मे सहायक होते है।

3. संस्कार प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से अनेक सामाजिक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करते है। जैसे—प्राग्जन्म संस्कार और जातकर्म, यौन-विज्ञान, प्रजनन-शास्त्र और स्वास्थ्य-विज्ञान से अनभिज्ञ लोगों को भी शिक्षा देते है। विवाह संस्कार विवाह को कामुकता के धरातल से ऊपर उठाकर पवित्रता का स्थान देता है। वह विवाह को स्थायित्व प्रदान कर समाज को पतन से बचाता है।

संस्कार और प्रतीकात्मकता : संस्कारों मे अनेक विधि-विधान होते हे। ये विधि-विधान प्रायः प्रतीकात्मक होते है जो व्यक्ति की बुद्धि और भावना को उद्‌बुद्ध कर उसे समाज से सबद्ध करते है। समग्र रूप से सस्कार भी प्रतीक बन जाते हैं। इनका स्वरूप आनुष्ठानिक होता है। इसी कारण ये आनुष्ठानिक प्रतीक भी कहे जाते है।

संस्कारों की संख्या : संस्कारों की संख्या प्रारम्भ में कम थी। लेकिन धीरे-धीरे सामाजिक परिस्थितियो तथा जीवन-दर्शन के परिवर्तन के अनुकूल उनकी संख्या मे भी वृद्धि होती गयी और इस युग तक पहुँचते-पहुँचते ये सोलह संस्कार स्वीकार किए गए— 1. गर्भाधान 2. पुंसवन 3. सीमतोन्नयन 4. जातकर्म 5. नामकरण 6. निष्क्रमण 7. अन्नप्राशन 8. चूड़ाकरण 9. कर्णवेध 10. विद्यारंभ 11. उपनयन 12. वेदारंभ 13. केशांत 14. स्नान अथवा समावर्तन 15. विवाह और 16. अन्त्येष्टि। इनमें से प्राय. प्रत्येक को (विद्यारंभ को छोड़कर) किसी-न-किसी प्राचीन धर्म-ग्रंथ में स्वीकृति मिल चुकी है। 'संस्कारों की सख्या का क्रमिक विकास' वाली तालिका से इस बात की पुष्टि होती है।

सूरसागर में वर्णित संस्कार-प्रतीक और उनका विवेचन : सूरसागर के विभिन्न प्रसंगों में जिन संस्कारों का विवरण मिलता है, वह मानव जीवन में होने वाले संस्कारों की सम्पूर्णता वाला नहीं है, उसमें ऊपर निर्धारित सभी सोलह संस्कारों का वर्णन न होकर, केवल 8 संस्कारों का वर्णन मिलता है। नीचे उनका विवेचन दिया जा रहा है।

1. जातकर्म

आदि मानव को पुत्र-जन्म एक अत्यन्त विस्मयकारक घटना रही होगी। उसने इसका श्रेय अतिमानवीय शक्ति को दिया होगा। ऐसे अवसर पर उसे असंख्य संकटों तथा विपत्तियों की आशंका हुई होगी। परिणामस्वरूप वह शांति के प्रयत्नों में लग गया। इसी कारण जातकर्म संस्कार ने धार्मिकता का रूप ग्रहण किया। सभ्यता के विकास में मानव ने स्त्री और नवजात शिशु की प्रसव-जन्य अशौच-कालीन असहायता केलिए सहज सावधानी तथा सुरक्षा का अनुभव भी किया होगा। इसलिए जातकर्म संस्कार में माता और शिशु की रक्षा तथा शुद्धि के सांस्कृतिक उपाय तथा आकांक्षायें भी जुड़ गयी। इस प्रकार जातकर्म संस्कार धर्म तथा लोक-संस्कृति का समन्वित रूप हो गया। सूर ने राम तथा कृष्ण के जन्म के अवसर पर जातकर्म संस्कार का जो वर्णन प्रस्तुत किया है, उसमें भी वही रूप मिलता है। आगे इस पर विस्तार से विचार किया जाएगा।

कृष्ण के जन्म से यशोदा अत्यन्त आनंदित हुई। उसने नंद को बुलवाया। नंद ने आकर शिशु का चेहरा देखा। 'ऐसा विश्वास किया जाता है कि पुत्र का मुख देखते ही पिता समस्त ऋणों से मुक्त होकर अमृतत्त्व को प्राप्त करता है'।[1]

प्रसव के अशौच को दूर करने केलिए नंद का सारा भवन चंदन से लीपा गया। द्वार पर सथिया बनाया गया। उसमें सात सीक रखी गयी। वंदनवार तथा तोरण बाँधे गये।

संस्कार को देखने केलिए नद के जाति-बन्धुओं के अतिरिक्त वंदीजन, मागध, सूत, ढाढी, ढाढ़िनि आदि आए। व्रज वनिताएँ कंचन-थाल में मांगलिक पदार्थ—दूब, दधि, रोचन—लायी। अक्षत और दूर्वा हाथ में लिये ऋषि लोग वहां उपस्थित हुए। कंचन-कलश सज्जित किये गये। पुत्र का मुख देखने के बाद नंद ने स्नान किया और हाथ में कुश लेकर नांदी-मुख श्राद्ध कर पितरों का सम्मोदन किया।

[1] याज्ञवल्क्य स्मृति, 17-1

नृत्य-गीत-वादन : इस अवसर पर ताल, मृदंग, मुरज, वेनु, पखावज, ढोल, तूर, दमामा, भेरी, विपान, शहनाई आदि बजाये गये। गोप-गोपियों ने आनंद से नृत्य किया। स्त्रियों ने बधावा तथा सोहिलो के गीत गाये। ढाढी-ढाढिनि ने बधावा गाया। गाली के गीत भी गाये गये।

आयुष्य : आयुष्य भी इस संस्कार का मुख्य अंग है। इसके अंतर्गत पुत्र की दीर्घायु की प्रार्थना की जाती है। कान्ह के जातकर्म संस्कार को देखने के लिए आये हुए लोग उसकी दीर्घायु के लिए आशीष देते हैं—

क) चिरजीवौ जसुदानंद, पूरन काम करी।[1]

ख) जुग-जुग जीवहु कान्ह, सबनि मन भावन रे।[2]

श्रीराम के जातकर्म-संस्कार के संदर्भ में भी ऐसे ही आशीष दिये गये हैं—

मागध-बंदी-सूत लुटाए, गो-गयंद-हर चीर।
देत असीस सूर, चिरजीवौ रामचंद्र रनधीर[3]।

माता की स्तुति : इसके पश्चात् कुल की आशाओं के केंद्रभूत पुत्र को जन्म देने के कारण माता यशोदा की स्तुति भी की गई है—

धनि-धन्य महरि की कोख, भाग-सुहाग भरी[4]।

मांगलिक कार्य : इस अवसर पर गोपी-ग्वाल कनक के माटों में हल्दी और दही मिलाकर परस्पर छिड़कने लगे ताकि छल भाग जाय। इस संस्कार के समय नंद ने होम तथा द्विज-पूजा भी की।

दान : इस संस्कार में नंद ने सबको यथायोग्य गाय, वस्त्र, आभूषण, नग-रत्न, पुष्प-माला, चंदन, दूब-रोचन आदि देकर सम्मान किया : ब्राह्मणों को कामधेनु-सी दो लाख गायें दीं : याचकों और ढाढ़ी-ढाढ़िनि को खूब दान दिया। 'व्यास जी के अनुसार पुत्र-जन्म की रात्रि में दिये हुए दान से अक्षय पुण्य प्राप्त होता है' [5]।

प्रतीक विवेचन : जातकर्म-संस्कार के वर्णन में जिन प्रतीकों का प्रयोग हुआ है, उन्हें दो शीर्षकों में बांट सकते हैं—

[1] सा०, 642
[2] वही, 646
[3] वही, 462
[4] वही, 642
[5] पुत्र जन्मनि यात्रायां शर्वर्यां दत्तमक्षयम्।
(हिंदू संस्कार, डॉ० राजबली पाण्डेय, पृ० 94 पर से उद्धृत)

क) धार्मिक प्रतीक और (ख) लौकिक प्रतीक। इनका विवरण इस प्रकार है—

क) धार्मिक प्रतीक

1. दूब : यह प्रत्येक वस्तु को शुद्ध बनानेवाली मानी जाती है इसकी विशेष वृद्धि होती है। अतः यह उर्वरा-शक्ति की प्रतीक मानी जाती है। इसकी हरीतिमा जीवन और उल्लास की प्रतीक है।

2. रोचन : यह प्रेम और सौभाग्य का प्रतीक है।

3. कुश : यह विश्वास है कि कुश प्रत्येक वस्तु को पवित्र बनाता है। इससे इसका नाम 'पवित्रं' भी है। अतः यह कर्मकांड का शुचितादायक अलंकरण है। यह उर्वरता, पवित्रता और जीवन की अक्षयता का प्रतीक है।

4. नाँदी-मुख-श्राद्ध : यह पितरों के सम्मोदन के लिए श्रद्धा के साथ किये जानेवाले कर्म-कांड का प्रतीक है। लोगों का विश्वास है कि 'इस श्राद्ध से पितरों को प्रसन्नता होती है और उनकी प्रसन्नता से पुण्य होता है।[1]

5. होम : देवता के उद्देश्य में फल मिलने की आशा से नियमानुसार स्थापित भभकती हुई आग में विधिवत् मन्त्र दोहराते हुए यजमान के द्वारा द्रव्य को घी के साथ छोड़ना अर्थात् उस पर निज का अधिकार त्याग देना ही होम है। इसलिए हम इसे त्याग का प्रतीक मान सकते हैं।

होमाग्नि की आराधना के मूल में लोगों का यह विश्वास है कि अग्नि रोग, राक्षसों और अन्य अमंगल शक्तियों से रक्षा करती है। अग्नि को देवों और मनुष्यों के बीच संदेशवाहक भी मानते हैं। इसी कारण अग्नि को हर संस्कार में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता है।

6. आशीर्वचन : आशीर्वचन में परहित की भावनाय निहित होती हैं जो देवों या ईश्वर द्वारा व्यक्त संस्कर्ताओं की आकांक्षायें होती हैं। आशीर्वचन व्यक्ति की अभीष्ट वस्तु के प्रतीक है। जनता का यह विश्वास है कि लोगों के आशीर्वचन का शुभ परिणाम होगा और इस प्रकार संस्कार्य व्यक्ति पर अभीष्ट प्रभाव हो सकेगा।

ख) लौकिक प्रतीक

1. चौक : यह पूजा के लिए आटे, अबीर आदि की लकीरों से बना हुआ

[1] जाते कुमारे पितृणामामोदात् पुण्यम्। हारीत

चौकोर चित्रण है। इस पर देवताओं का आह्वान किया जाता है। इस प्रकार यह देवताओं के लिए निश्चित माँगलिक स्थान का प्रतीक है।

2. सतिये रखना : जन्म के कुछ समय पश्चात् गाय के गोबर से द्वार के दोनों ओर तथा माँ की चारपाई के पायों पर सतिये रखे जाते है। सतिये पर सात सींक रखी जाती हैं जो सात लोकों के भूतप्रेतों अथवा बुरे प्रभावों से शिशु की रक्षा करनेवाली सुरक्षा-प्रतीक हैं। सतिया माँगलिक आकृति का प्रतीक है।

3. दधि-माखन के माट : ये गोपालक संस्कृति के प्रतीक हैं। ये पूर्ण माँगलिकता के भी प्रतीक हैं।

2. नामकरण

संस्कृत समाज के व्यवहार के संचालन के लिए बहुत प्राचीन काल में ही, व्यक्तियों के विशिष्ट तथा निश्चित नामों की आवश्यकता का अनुभव किया गया। इसी कारण 'नामकरण' को धार्मिक संस्कारों में स्थान प्राप्त हुआ। नाम की रचना में धार्मिक, ज्योतिषपरक, लौकिक तथा अनेक अन्य प्रकार के तत्त्व जुड़ गये। कुछ लोगों के नाम कुल देवता के अनुसार रखे जाते थे तो कुछ लोगों के नाम उस नक्षत्र के अनुसार जिसमें उनका जन्म हुआ हो। कुछ लोगों के नाम कुल की संस्कृति तथा शिक्षा से सम्बन्धित होते थे। वे भाग्यहीन माता-पिता जिनकी पूर्व सन्तान मृत्यु को प्राप्त हो चुकी थी; भूत-प्रेतों, रोगों तथा मृत्यु को भयभीत करने के लिए, अपने शिशु को कुरुचिपूर्ण, प्रतीकारात्मक तथा निन्दा-सूचक नाम रख दिया करते थे। लेकिन आजकल एक ओर नामों की विविधता मिलती है तो दूसरी ओर एक ही नाम में उपर्युक्त सब तत्त्व जुड़े हुए दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार नाम वह संश्लिष्ट प्रतीक है, जिसमें धर्म, ज्योतिष, संस्कृति, शिक्षा, मानसिक प्रवृत्ति आदि अनेक तत्त्वों का समावेश होता है और जिसके द्वारा व्यक्ति की रक्षा की कामना की जाती है।

बृहस्पति के अनुसार शिशु का नामकरण जन्म से दसवें, बारहवें, तेरहवें, सोलहवें, उन्नीसवें अथवा बत्तीसवें दिन संपन्न करना चाहिए।[1] लेकिन परवर्ती विकल्प के अनुसार नामकरण जन्म के पश्चात् दसवे दिन से लेकर द्वितीय वर्ष के प्रथम दिन तक संपन्न किया जा सकता था। इस व्यापक विकल्प का कारण परिवार की सुविधा तथा माता और शिशु का स्वास्थ्य था।

[1] द्वादशाहे हे वा जन्मतोऽपित त्रयोदशे
षोडशेकोनविंशे वा द्वात्रिंशे वर्णतः क्रमात् ॥
वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश, भाग 1. पृ० 234 से उद्धृत।

विधि-विधान

जननाशौच के समाप्त होने पर घर प्रक्षालित तथा शुद्ध किया जाता था। शिशु और माता को स्नान कराया जाता था। माता शिशु को शुद्ध वस्त्र से ढककर तथा उसके सिर को जल से आर्द्र कर पिता को हस्तांतरित कर देती थी। प्रजापति, तिथि, नक्षत्र तथा उनके देवता, अग्नि और सोम को आहुतियाँ दी जाती थी। पिता शिशु के श्वास-प्रश्वासो को स्पर्श कर शिशु की चेतना का उद्‌बोधन करता था। तब शिशु के दाहिने कान की ओर झुकता हुआ पिता कुलदेवता, नक्षत्र, लोक सबधी विभिन्न नामो का उच्चारण करता था। वहाँ पर एकत्र ब्राह्मण कहते थे—"यह नाम प्रतिष्ठित हो"। इसके पश्चात् ब्राह्मण आशीष देते थे। ब्राह्मण-भोजन तथा आदरपूर्वक देवताओ और पितरो को अपने-अपने स्थानो को प्रेषित करने पर संस्कार समाप्त होता था।

सूरसागर में संस्कार का वर्णन

सूरसागर मे कृष्ण के नामकरण-संस्कार का वर्णन यो मिलता है—

ऋषिराज गर्ग नन्द-भवन मे पधारते है। नन्द जी उनके चरण धोकर चरणोदक लेते और बड़े आदर से अर्घ्य-आसन देते है। तब गर्ग जी 'लगन सोधकर और जोतिप गनिकै' नवजात शिशु के अनेक 'गुन' या लक्षण बताते है—

सवत सरस विभावन, भादौ, आठै तिथि, बुधवार।

*　　　*　　　*

कर्म-भवन के ईस सनीचर, स्याम बरन तन ह्वै है।[1]

ब्रजवासी उनको सुन-समझकर बहुत आनंदित होते है।

इस प्रकार सूर ने 'नामकरण' सस्कार का परम्परानुगत वर्णन ही किया है। इसमे विधि-विधानो का उल्लेख नही है। अतः इस संस्कार वर्णन मे प्रतीकात्मकता नहीं उभर सकी है। केवल 'नाम' ही प्रतीक है, जिसकी प्रतीकात्मकता की ओर पीछे सकेत किया गया है।

3. अन्नप्राशन

छोटे बच्चे का आहार प्राय. माता का दूध होता है; किन्तु उसके छः या सातो मास के होते-होते उसे अधिक मात्रा मे भिन्न प्रकार के भोजन की आवश्यकता होत

[1] सा०. 701

है और माता के दूध की मात्रा घटने लगती है। अतः शिशु और माता दोनों के हित की दृष्टि से माता के दूध के साथ-साथ कुछ अन्न के पदार्थ खिलाना भी प्रारम्भ किया जाता है। जिस दिन से यह क्रिया आरम्भ होती है, उस दिन को एक संस्कार के रूप में मनाया जाता है, वही अन्नप्राशन संस्कार है।

प्रायः अन्नप्राशन संस्कार और बच्चे के दांतों का निकलना, ये दो क्रियायें एक ही समय में अर्थात् छः महीने के बाद होती है। अतः इन दोनों को एक साथ संवद्ध करके भी देखा जा सकता हैं। दाँतों का निकलना यह सूचित करता है कि बच्चे को ठोस भोजन की आवश्यकता है और उसी आवश्यकता की पूर्ति अन्नप्राशन संस्कार से होती है। अतः इस रूप में अन्न-प्राशन संस्कार बालक के विकास की एक स्थिति की सूचना देता है। अर्थात् यह संस्कार बताता है कि यह बालक अब विकसनशील है और इसलिए इसे दूध के साथ-साथ ठोस आहार की भी आवश्यकता है। अतः अन्नप्राशन संस्कार बालक के विकास की एक अवस्था का प्रतीक माना जा सकता है। अन्नप्राशन के समय प्रायः खीर, मधु और घी खिलाये जाते है। खीर (दूध और अन्न का मिश्रित रूप), मधु एवं घी बच्चे की विकसित पाचन-शक्ति के प्रतीक हैं।

सूरसागर में कृष्ण के अन्नप्राशन संस्कार का वर्णन मिलता है। कृष्ण के छठे महीने नन्द ने ब्राह्मणों को बुलाकर इस संस्कार का सुलग्न निकला गया। दिन के निश्चित होने पर यशोदा ने सखियों को निमंत्रण दिया। अन्नप्राशन सस्कार के दिन यशोदा ने कृष्ण को नहला-धुलाकर वस्त्र तथा आभूषण पहनाये। फिर नन्द ने उसे अपनी गोद में लेकर कनक-थाल में रखी हुई चावल की खीर मधु और घी के साथ खिलाई। बाद में ब्रज-बन्धुओं की ज्योनार हुई जिसमें विविध प्रकार के व्यंजन परोसे गये।[1]

4. चूड़ाकर्म

चूड़ाकर्म, केशों में छिपी रहनेवाली बुरी शक्तियों को भगाकर बच्चे को उन शक्तियों से बचाने का क्रिया-प्रतीक है। सूरदास ने गभुआरे[2] और झंडूले[3] बालों का उल्लेख किया है; किन्तु चूड़ाकर्म के विधि-विधानों का वर्णन नही किया है। अतएव यहाँ चूड़ाकर्म के विधि-विधानों तथा उनकी प्रतीकात्मकता के सम्बन्ध में विचार नहीं

[1] सा०, 707

[2] गभुआरे सिरकेस हैं, बर घूंघरवारे। वही, 752

[3] उर बघ नख, कठ कठुला, झंडूले बार,
बेनी लटकन मसि बुंदा मुनि मनहार। वही, 769

किया गया है ।

5. कर्णवेध

कर्णवेध संस्कार में बालक[1] या बालिका के कान छेदे जाने की प्रथा है। आरम्भ मे अलंकरण के लिए इस संस्कार का प्रचलन हुआ होगा और बाद में उसके अन्य प्रयोजनों को दृष्टि में रखकर उसे धार्मिक स्वरूप दिया गया होगा। सुश्रुत इस सस्कार के ये प्रयोजन बताते है— 1. रोग आदि से रक्षा, 2. अलंकरण 3. अण्ड कोश वृद्धि एवं 4. अन्त्रवृद्धि का निरोध ।[2]

सूरदास ने एक पद में कृष्ण के कर्णवेध का अत्यन्त संक्षेप में बहुत ही स्वाभाविक वर्णन किया है। कृष्ण को संस्कार केलिए प्रस्तुत करने हेतु गुड़ की भेली दी गयी ; कान पर सींक और रोचन की सहायता से वेद का स्थान निश्चित किया गया: कचन के दुर मंगाये गये; कृष्ण के कान छेदे गये। तब कृष्ण की आँखों से आंसू निकलने लगे। इसे देखकर यशोदा की आंखों से भी आंसू निकले; किन्तु उसने अपने आंसू छिपाकर चतुरता से नाई को घुड़की दी। इस दृश्य को देखते समय नन्द की आँखों में आँसू और मुख पर हँसी थी। अंत में नन्द ने सबको बधाई दी ।[3]

कर्णछेदन संक्षेप में अलंकरण और भावी रोगों से रक्षा का किया-प्रतीक है।

6. उपनयन

आरम्भ में युवक को नागरिक कर्त्तव्यों का क्रियात्मक रूप से निर्वाह करने के योग्य बनाना उपनयन संस्कार का प्रमुख उद्देश्य रहा है। लेकिन धीरे-धीरे इस पर भी धार्मिक रग चढ़ गया। हिन्दुओं के समाज में प्रवेश का यह एक साधन था। इसके बिना किसी हिन्दू का विवाह नहीं हो सकता था।

उपनयन वह कृत्य था जिसके द्वारा बालक आचार्य के पास ले जाया जाय। लेकिन आजकल उपनयन संस्कार में विद्या-प्राप्ति की भावना का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। उससे तात्पर्य बालक को यज्ञोपवीत पहनाना रह गया है।

[1] आजकल लड़कों के कान छिदवाने की प्रथा उठ-सी गयी है।

[2] अ) रक्षाभूषण निमित्त बालस्य कर्णौ विध्येत् ।
   आ) शङ्खो परिच कर्णान्ते त्यक्त्वा यत्नेन सेवनीम् ।
      व्यत्यासाद्वा शिरा विध्येदन्त्रवृद्धिनिवृत्तये ॥
   हिंदू सस्कार, डॉ० राजबली पांडेय, पृ० 129 से उद्धृत

[3] सा० 793

सूरसागर में बलराम तथा कृष्ण के उपनयन संस्कार का संक्षेप में वर्णन किया गया है। मथुरा में कंस-वध के अनंतर वासुदेव की वंश-परम्परा के अनुसार उनका उपनयन संस्कार कराया गया—

बसुद्यौ कुलव्योहार बिचारि।
हरि हलधर कौं दियौ जनेऊ, करि षटरस ज्यौनारि॥[1]

इस वर्णन में संस्कार के विधि-विधानों का कोई उल्लेख नहीं है। अतः उनकी प्रतीकात्मकता पर यहां विचार नहीं किया गया है।

उपनयन की मुख्य वस्तु यज्ञोपवीत है। यज्ञोपवीत के तीन सूत्र होते हैं। प्रत्येक सूत्र के तीन धागे होते हैं। ये तीन धागे व्यक्ति के तीन गुणों (सत्व, राजस और तामस), तीन ऋणों (देवऋण, ऋषि ऋण, पितृ ऋण) अथवा शरीर, वाक् तथा मन के प्रतीक हैं।

7. विवाह

विवाह का मानव जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी कारण भारतीय धर्मशास्त्रों में इनका विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। हिन्दू जीवन में विवाह एक ऐसा महत्त्वपूर्ण संस्कार है जो युवक-युवती के जन्म-जन्मांतर संबंध को भाग्य द्वारा जोड़नेवाले का प्रतीक है। मधुपर्क विधि के प्रसंग में वर सार्वजनिक रूप से घोषित करता है कि वह वधू के लिए योग्यतम वर है। इस दृष्टि से देखने पर विवाह योग्यतम दंपति के एकीकरण का प्रतीक है।

विवाह संस्कार और प्रतीकवाद

भारतीय विवाह में केवल सामाजिक तत्त्व ही नहीं, धार्मिक तत्त्व भी है। इनमें वर और वधू, इन दो पक्षों के अतिरिक्त तीसरा आध्यात्मिक तत्त्व भी है। विवाह के बाद पति-पत्नी गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए पंच-यज्ञ, तर्पण, संतानोत्पत्ति के द्वारा देव-ऋण, पितृ-ऋण से उऋण होकर अपने आध्यात्मिक कर्त्तव्य को पूर्ण करते हैं। विवाह-क्रिया का यही आध्यात्मिक पक्ष है। अतः पति और पत्नी केवल परस्पर एक दूसरे के प्रति ही उत्तरदायी नहीं होते, किन्तु उन्हें अतिमानवीय आध्यात्मिक तत्त्व के प्रति भी महत्तर निष्ठा रखनी पड़ती है। इस आध्यात्मिक तत्त्व के बिना दांपत्य जीवन का स्थायित्व नष्ट होता है और उस समय भारतीय विवाह संस्कार का वह महत्त्व नहीं रहता, जो आज है। आध्यात्मिक तत्त्व के कारण विवाह-संस्कार में रहस्यात्मकता उपस्थित होती है। इस रहस्यात्मकता के कारण

[1] सा०, 3712

हिन्दू विवाह के विधि-विधानों में प्रतीकों का व्यवहार आवश्यक बन जाता है।

सूरसागर में वर्णित विवाह के विधि-विधानों की प्रतीक-योजना

सूरसागर में 17 विवाहों का वर्णन किया गया है। उनमें केवल राम-सीता तथा राधा-कृष्ण के विवाह कुछ विस्तार से वर्णित हुए है। अतः सूरसागर मे 'विवाह के विधि-विधान' संपूर्णतावाला नही है। समूचे सूरसागर में मिलनेवाले विवाह के विधि-विधानो में जिनकी प्रतीकात्मकता की संभावना है वे आगे विस्तार से स्पप्ट किये गये है।

1. वाग्दान : यह वैवाहिक विधियों का आरंभिक भाग है। यह विधि विवाह के पूर्व कर ली जाती है। इस अवसर पर वधू का पिता कहता है —"इस शुभ अवसर पर मै अमुक गोत्र मे उत्पन्न, अमुक व्यक्ति को, अमुक नामवाली पुत्री देता हूँ।" इससे स्पष्ट है कि वाग्दान वर को कन्यादान की मौखिक स्वीकृति का प्रतीक है।

सूरसागर मे कृष्ण-रुक्मिणी विवाह के प्रसंग में वाग्दान का संकेत है। रुक्मिणी अपनी सखियों से कहती है कि उसका विवाह शिशुपाल से निश्चित कर घरवाले अपने शत्रु बन गये है —

कुटुँब वैर मेरे परे, बरनि वर सिसुपाल।[1]

2. कंकण बंधन : वर और कन्या को हल्दी चढने के दिन कंकण बांधा जाता है। यह प्रायः विवाह के एक दिन से लेकर तीन दिन पहले तक होता है। कंकण ऊन का एक धागा होता है। उसके बीच मे ऊनी कपड़े की एक पोटली होती है जिसमे आटे की भूसी, नमक, राई, लोहे का टुकड़ा, बघनख आदि दृष्टि-दोष दूर करनेवाले पदार्थ रखे जाते है। ककण वर के दाहिने हाथ और कन्या के बाएं हाथ पर बाधा जाता है। यह एक ओर दृष्टिदोप को दूर करने के विधान का प्रतीक है और दूसरी ओर वर और वधू को समाज के अन्य लोगों से पृथक् करने का प्रतीक है। सूरसागर में राधा-कृष्ण विवाह के प्रसंग मे इस विधि की ओर संकेत है—

मोर मुकुट सुमौर मानौ, कटक कगन-भास।[2]

3. मधुपर्क : श्वसुर वर का जो प्रथम सत्कार करता है, वह है मधुपर्क देना। आचमन करने के बाद वर श्वसुर से दिये जानेवाले मधुपर्क को स्वीकार

[1] सा०. 4807
[2] वही, 1688

करता है ; उसे तीन बार मिलाता है ; उसका थोड़ा-सा भाग विभिन्न दिशाओं में छिड़कता है ; बचे हुए मधुपर्क का पान करता है ।

मधुपर्क दिव्य वस्तुओं — दही, घृत, मधु का मिश्रित रूप है । अतएव मधुपर्क का ग्रहण दिव्य वस्तुओं के पान का प्रतीक है ।

रासलीला के मध्य 'राधा-कृष्ण-विवाह' के प्रसंग में सूरदास ने मधुपर्क की विस्तृत क्रियाओं का वर्णन न करके केवल राधा के अधर-मधु के पान को ही मधुपर्क-पान बताया है—

अधर-मधु मधुपरक करिके, करत आनन हास ।[1]

4. मुकुट और चौरी धारण : विवाह के दिन स्नान के पश्चात् वर मुकुट और वधु चौरी धारण करती है । राधा-कृष्ण-विवाह में सूर ने कृष्ण के मुकुट और राधा के चौरी धारण करने का उल्लेख किया—

अ) मोर मुकुट रचि मौर बनायौ
माथे पर धरि हरि वर आयौ ।[2]
आ) कुँवरि चौरी आनियौ ।[3]

मुकुट और चौरी वहाँ उपस्थित स्त्री-पुरुषों से वर और वधू की विशिष्टता के प्रतीक हैं । इनके माध्यम से ही वर और वधू को पहचाना जा सकता है ।

5. ग्रन्थि : इस विधि में वर वधू के उत्तरीय मिलाकर गाँठ दी जाती है । इसे गाँठ जोड़ना भी कहते हैं । इस वस्त्र-बन्धन से स्त्री-पुरुष सामाजिक रूप से एक इकाई बन जाते हैं । अतएव यह विधि वर और वधू के हृदयों के मिलन की प्रतीक है । राधा-कृष्ण-विवाह के प्रसंग में यह विधि वर्णित है—

जिय परी ग्रंथि कौन छोरै, निकट ननद न सास ।[4]

6. पाणि-ग्रहण : वर द्वारा वधू का दाहिना हाथ ग्रहण किया जाना पाणिग्रहण कहा जाता है । उस समय वर कहता है—"मैं सौभाग्य केलिए तेरा पाणिग्रहण करता हूँ; तू मुझ पति के साथ दीर्घायु हो । भग, विष्णु, सविता और पुरन्धि—इन देवों ने तुझे मेरे हाथ सौंपा है, जिससे हम अपने घर शासन करें ।" इससे स्पष्ट है कि पाणिग्रहण कन्या का दायित्व तथा भार सम्भालने का प्रतीक है । कन्या केवल

[1] सा०, 1689
[2] वही, 1690
[3] वही, 1690
[4] वही, 1689

उसके पिता के द्वारा ही नहीं, उपर्युक्त भग, विष्णु, सविता और पुरन्धि अधिष्ठातृ देवताओं के द्वारा दी गई है। अतएव यह उत्तरदायित्व अत्यन्त पवित्र है। सूरसागर में राम-सीता और राधा-कृष्ण विवाह के प्रसंगों में इस विधि का उल्लेख मात्र है—

अ) पानि-ग्रहन रघुवर वर कीन्ह्यौ, जनकसुता सुख दीन ।[1]

आ) ता परि पानि-ग्रहन विधि कीन्ही ।[2]

7. सप्तपदी : प्रारम्भ में पति का पत्नी के साथ उत्तर दिशा में सात पग चलना 'सप्तपदी' कहा जाता होगा। किन्तु कालांतर में इस विधान में अग्नि प्रदक्षिणा का विधान भी जुड़ गया। आजकल इस विधान के अन्तर्गत वर-वधू द्वारा अग्नि की सात परिक्रमाएँ करना आचार हो गया है। इसे 'भाँवरी' भी कहते हैं। सूरसागर में राधा-कृष्ण भाँवरी करते हैं—

फिरत भांवरि करत भूपन, अग्नि मनौ उजास ।[3]

वर-वधू ऐश्वर्य केलिए एक परिक्रमा, ऊर्ज केलिए दूसरी परिक्रमा, भूति के लिए तीसरी परिक्रमा, सुखों केलिए चौथी, पशुओं केलिए पाँचवी, ऋतुओं केलिए छठी और सख्य केलिए सातवीं परिक्रमा लगाते हैं। इस प्रकार सप्तपदी उस क्रिया की प्रतीक है जिससे वर-वधू सुखी पारिवारिक जीवन केलिए आवश्यक पदार्थों की प्रार्थना करते हैं। सप्तपदी विवाह के अनेक विधि-विधानों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उसके पश्चात् वैध रूप से विवाह पूर्ण समझा जाता है।

8. कंकण-मोचन : वरात के लौट जाने के बाद देवताओं आदि की पूजा सम्पन्न हो जाती है तो किसी शुभ दिन को एक समारोह के मध्य वर-कन्या परस्पर एक दूसरे का कंकण खोलते है। इसे प्रायः हास्य–विनोद और भावी जीवन में एक के दूसरे के ऊपर स्थापित प्रभाव का सूचक माना जाता है। ऐसा माना जाता है कि कंकण-मोचन में जो जीतता है वही जीवन में भी अपने साथी से जीतता रहेगा। राम-सीता-विवाह में कंकण-मोचन के समय राम सीता के कंकण की गाँठ न खोल सकने के कारण हार जाते हैं और स्त्रियों के उपहास के पात्र बनते हैं।[4]

[1] सा०, 470
[2] वही, 1690
[3] वही, 1689
[4] वही, 469

8. अन्त्येष्टि

मानव जीवन का अंतिम संस्कार अन्त्येष्टि है। यह मृत्यु के पश्चात् होता है। इस संस्कार के उद्भव में अनेक कारण काम करते होंगे। यथा—

1. मृत व्यक्ति के प्रेत बनने का भय।
2. मृतात्मा के भावी कल्याण के लिए।
3. संक्रामक रोगों के प्रसार को रोकने के लिए।

सूरसागर में महाराज दशरथ, जटायु, शबरी आदि के अन्त्येष्टि संस्कारों का वर्णन है। महाराज दशरथ के अन्त्येष्टि-संस्कार के वर्णन में अनेक विधि-विधानों का उल्लेख मिलता है[1]—

1. एक विमान पर दशरथ का शव सरयू के किनारे श्मशान घाट पर लाया गया।

2. वहां चंदन की लकड़ियों से बनी चिता पर शव रखा गया।

3. शव पर अगर, सुगन्ध, घृत आदि डाले गए।

4. भरत ने शव में अग्नि लगायी।

5. उसके पश्चात् वहां आए हुए परिजन तथा पुरजनों ने तिलांजलि दी।

6. शव-दाह के पश्चात् भरत द्वारा दस दिन तक जल से पूर्ण घट श्मशान-घाट पर टांग दिए गए। उन पर दीपक जलाकर दीपदान किया गया।

7. ग्यारहवें दिन विप्र-भोजन कराया गया और उन्हें अनेक प्रकार के दान दिए गए।

प्रतीक-विवेचन : इस संस्कार के वर्णन में ये मुख्य प्रतीक आए हैं—

1. विमान : यह मरे हुए व्यक्ति को इस लोक से पितर लोक को ले जाने वाले साधन का प्रतीक है।

2. शव : यह अचेतनता, अचलता और निर्जीवता का प्रतीक है।

3. अग्नि-दाह : ऐसा विश्वास किया जाता है कि अग्नि प्रत्येक वस्तु को शुद्ध करती है। यह भी माना जाता है कि वह देवों और मनुष्यों के बीच मध्यस्थ और संदेशवाहक है। शव को अग्नि से जलाने का उद्देश्य यही है कि अग्नि मृत व्यक्ति को शुद्ध तथा पवित्र बनाकर उसकी आत्मा को परलोक ले जाएगी।

अग्नि सब-कुछ जला देती है। अतः मृत व्यक्ति को जलाकर उसकी राख

[1] ना०, 494

को नदी आदि में फेकने से यह समझा जाता है कि उसका भौतिक अस्तित्व पूर्णतः समाप्त हो गया और सब तत्त्व अपने-अपने मूल स्वरूप मे मिल गए। अतः अग्नि-दाह मृत व्यक्ति के भौतिक-नाश का प्रतीक है।

4. तिलांजलि : अंजलि में जल लेकर, उसमें तिल डालकर मृतक के नाम पर छोड़ने को तिलांजलि कहते है। यह मृतक से लोक द्वारा सम्बन्ध-विच्छेद किए जाने की प्रतीक है।

5. जल-कुंभ तथा दीप-दान : मरे हुए व्यक्ति की आत्मा लोक-विश्वास के अनुसार अंतिम संस्कार के अन्त तक वही भटकती है। अतः तब तक भोजन, जल, दीपक आदि आवश्यक वस्तुये उसकी तृप्ति के लिए श्मशान में पहुँचाई जाती है। जलपूर्ण कुंभ और दीपक का रखना मृतात्मा की सहायता केलिए किए जाने वाले क्रिया-प्रतीक है।

6. विप्र-भोजन : यह अन्त्येष्टि संस्कार के ग्यारवे, बारहवें अथवा तेरहवें दिन होने वाला मुख्य संस्कार है, जिसमे (मृतात्मा की क्षुधा-तृप्ति के लिए एक दिन के हिसाब से एक ब्राह्मण) मृत व्यक्ति के बीते हुए दिनों की संख्या के अनुसार उतनी ही सख्या में ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता है। प्रायः ब्राह्मणों की सख्या तेरह होती है, जो इस संस्कार के मुख्य रूप से तेरहवे दिन होने की बात को पुष्ट करती है। यह भोजन मृतात्मा की क्षुधा-शांति के लिए कराया जाता है। अतः यह मृत व्यक्ति के लिए भोजन-दान का प्रतीक है।

सूर के अनुसार दशरथ का मृत्यु-भोज ग्यारवे दिन हुआ जिसमें संस्कार रूप में खिलाये गए ब्राह्मणों के भोजन के अलावा बहुत से ब्राह्मणों को भी भोजन दिया गया। अतः यह दान मृतात्मा की परलोक-समृद्धि का प्रतीक है जो परलोक में मृतात्मा को मिल जाता है।

(इ) उत्सव तथा त्यौहार प्रतीक

भारत देश सदा से उत्सव तथा त्यौहारों के लिए प्रसिद्ध रहा है। इसी कारण यहां साल-भर कोई-न कोई उत्सव अथवा त्यौहार मनाया जाता रहता है। उत्सव तथा त्यौहार लोगों की सजीवता, समृद्धि और उनके सुखी जीवन के द्योतक है।

प्रकृति परिवर्तन के प्रतीक : प्रकृति के परिवर्तन द्वारा हर्ष तथा आनन्द को प्राप्त करने की इच्छा से ही हमारे उत्सव और त्योहार बने है। श्रावणी वर्षाऋतु का उत्सव है, दशहरा और दिवाली शरद्ऋतु के पर्व है तथा होली बसन्तऋतु की

आगमन-वेला का त्यौहार है। जब ग्रीष्म के भीषण आतप से झुलसाई हुई प्रकृति वर्षाऋतु में लहलहाने लगती है, तब श्रावणी का धार्मिक पर्व और झूलनोत्सवक लोक त्यौहार आता है। घनघोर वर्षा की बाढ़ के बाद जब शरद् की सुहावनी ऋतु आती है तो दशहरा और दिवाली के प्रसिद्ध पर्व होते हैं। भयंकर शीत से सताई हुई प्रकृति जब वसंत के आगमन से मुस्कुराने लगती है तब होली का त्यौहार आता है। इस प्रकार हमारे सभी उत्सव तथा त्यौहार प्रकृति परिवर्तन की आनन्ददायी अनुभूति के प्रतीक हैं।

सांस्कृतिक एकीकरण के प्रतीक : हिन्दुओं के चार वर्णों के लिए चार मुख्य उत्सव नियत किये गए हैं—ब्राह्मणों के लिए श्रावणी, क्षत्रियों के लिए दशहरा, वैश्यों के लिए दिवाली और शूद्रों के लिए होली। ये उत्सव वर्णों के अनुसार विभाजित किये गए हैं। किन्तु व्यवहार में वे उक्त वर्णों तक ही सीमित नहीं हैं। सभी लोग इन उत्सवों में समान रूप से भाग लेते हैं। इस प्रकार त्यौहार सांस्कृतिक एकता को स्थापित करने में सहायता देते हैं। अतएव हम उत्सव तथा त्योहारों को सांस्कृतिक एकीकरण के प्रतीक मान सकते हैं।

सूरसागर में वर्णित कुछ मुख्य उत्सव तथा त्योहार प्रतीक : सूरसागर में कुछ उत्सवों तथा त्योहारों का वर्णन मिलता है। यथा—दिवाली, अन्नकूटोत्सव, होली, फूलडोल, हिंडोरा। आगे उनकी प्रतीकात्मकता पर विचार किया जायेगा।

प्रतीक-विवेचन

1. दिवाली

दिवाली हिंदुओं का प्राचीन धार्मिक उत्सव, सांस्कृतिक समारोह और लोकप्रसिद्ध त्यौहार है। उत्तर भारत में यह बड़े धूमधाम से मनाया जाता है। दिवाली के दो दिन पूर्व और दो दिन पश्चात् अन्य त्यौहार भी जुड़ गए है। अतः यह त्यौहार पाँच त्यौहारों—धनतेरस, नरक चतुर्दशी, दिवाली, अन्नकूटोत्सव और भैयादूज (यमद्वितीया)—का समूह रूप है।

सूरसागर में वर्णित 'दिवाली' का स्वरूप : सूरदास ने सूरसागर में वर्षोत्सव के अन्तर्गत दीपमालिका का वर्णन इस प्रकार किया है—

आजु दीपति दिव्य दीपमालिका।

* * *

गज मोतिन के चौक पुराय बिच बिच लाल प्रवालिका॥

* * *

सूरदास कुसुमनि सुर बरषत कर संपुट करि मालिका ।[1]

यहाँ सूर ने केवल दीपों को जलाने का वर्णन किया है। उन्होंने दिवाली की अन्य विशेषताओं—लक्ष्मी की पूजा, द्यूतक्रीड़ा आदि—को छोड़ दिया है जो उन्हें अभीष्ट नहीं था।

प्रतीक-विवेचन

दीपदान से स्पष्ट है कि 'दिवाली असत्य पर सत्य की, अन्धकार पर प्रकाश की, दुर्गुणों पर सद्गुणों की तथा हिंसा पर अहिंसा की भी विजय की प्रतीक है।'[2] डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने दिवाली की प्रतीकात्मकता के सम्बन्ध में लिखा है—"एक व्यक्ति नहीं, एक परिवार नहीं, एक जाति भी नहीं, बल्कि समूचा मानव समाज समृद्धि चाहता है, उल्लास और उमंग चाहता है। दीपावली का उत्सव उसी सामाजिक मंगलेच्छा का दृश्यमान मूर्त्तरूप है। समूचा समाज आज दरिद्रता के अभिशाप से मुक्ति चाहता है, अभाव के शिकंजे से छूटना चाहता है। दीवाली उसके इस संकल्प की जलती हुई दीपशिखा है।"[3]

2. अन्नकूटोत्सव

दिवाली के एक दिन पश्चात् ब्रज में गोवर्द्धन पूजा और अन्नकूटोत्सव होता है। यह श्रीकृष्ण की गोवर्द्धन धारण लीला से सम्बन्धित है। यह उत्सव गो-वंश के संवर्द्धन का है। इसीलिए इसे ब्रज में अत्यन्त धूमधाम और समारोह पूर्वक मनाया जाता है। उस दिन ब्रज के घर-घर में गायों की पूजा होती है। गोबर से बनायी गयी गोवर्द्धन-गिरिराज की आकृति की पूजा की जाती है। नाना प्रकार के व्यंजनों से अन्नकूट का आयोजन कर उससे ठाकुर जी का भोग लगाया जाता है। उस अवसर पर ब्रज के सभी मंदिर-देवालयों में विशेषकर वल्लभ संप्रदायी मन्दिरों में गोवर्द्धन-पूजा और अन्नकूट के उत्सव होते हैं। उस दिन ब्रज के गोवर्द्धन ग्राम में श्री गिरिराज जी के पूजन, अन्नकूट और परिक्रमा के आयोजन किए जाते हैं। अन्नकूट में छप्पन भोग, छत्तीसों व्यंजन दिखाई देते हैं।

सूर ने गोवर्द्धन-पूजा तथा अन्नकूटोत्सव का वर्णन इस प्रकार किया है—

[1] सा०, 1427

[2] युग प्रभात लेख : दीपावली, लेखक : रामनुदीन, vol. 3, No. 16 नवंबर, 1958 पृ० 9

[3] सरस्वती, वर्ष 61, खण्ड 2 संख्या 4
लेख; हिंदी कविता का चिर परिचित प्रतीक—दीपक, पृ० 230

ब्रज के सब लोग गोवर्द्धन-पूजा के लिए घर-घर से अनेक प्रकार के पकवान शकटों में लिए गोवर्द्धन-पर्वत के यहाँ पहुँच गये। यशोदा ने जिन व्यंजनों को बनाया था उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। इंद्र-पूजा की परम्परा को मिटाकर गोवर्द्धन के सिर पर तिलक चढ़ाया गया। वहाँ पर अन्नकूट ऐसा रचा गया था कि उसने पहाड़ की उपमा पाई—

अन्नकूट ऐसौ रचि राख्यौ, गिरि की उपमा पाइ ॥[1]

ग्वालों द्वारा गोवर्द्धन के शिखर पर से दूध डाला गया, वस्त्राभूषण उसे चढ़ाये गये, भोग अर्पित किये गये।

ख़रीफ की फ़सल कटने के दिन होने के कारण इस उत्सव को यत्र-तत्र एकत्र अन्नराशि का प्रतीक मान सकते हैं।[2]

3. होली

सूर ने अन्य त्यौहारों की अपेक्षा होली (फ़ाग) का अधिक विस्तार से वर्णन किया है। उनके वर्णन में होली का परम्परागत रूप ही दिखायी पड़ता है।

होली के अवसर पर गोपियाँ तथा कृष्ण दोनों एक दूसरे पर रंग, गुलाल, अबीर, चंदन, चोवा, अरगजा इत्यादि डालते है—

गोकुल सकल गुवालिनी, घर घर खेलत फाग मनोहरा झूम करो।
तिनमैं राधा लाड़िली, जिनकौ अधिक सुहाग। म० ॥

* * *

दुरत स्याम धरि पाइयो, राधा भरि अँकवारि। म० ॥

* * *

चोवा चंदन अरगजा, उड़त अबीर गुलाल। म० ॥
कर करताल बजावही, छिरकति सब ब्रजनारि। म० ॥[3]

ढोल, मृदंग, झाँझ, डफ, झालर आदि अनेक वाद्ययंत्र निरंतर बजाये जाते है—

डफ बाँसुरी रुंज अरु महुअरि, बाजत ताल मृदंग।
अति आनन्द मनोहर बानी, गावत उठति तरंग ॥[4]

[1] सा०, 1450
[2] अष्टछाप काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन, डॉ० मायारानी टन्डन, पृ० 303
[3] सा०, 3483
[4] वही, 3479

व्रज के कुँज-कुँज मे होली की धूम मची है। गोपांगनाओं को होली खेलने में कितना आनन्द प्राप्त हो रहा है? सबने लोक-लाज, कुल-मर्यादा सबको त्याग दिया है—

होरी खेलत व्रज खोरनि मै, व्रज वाला वनि वनि वनवारी।
डंफ की धुनि सुनि विकल भई सव कोउ न रहति घर घूंघटवारी।[1]

प्रतीक-व्याख्या

होली त्यौहार के दो मुख्य तत्त्व है— 1. होली जलाना[2] और 2. होली खेलना। होली जलाने का सम्वन्ध होलिका-दहन की पौराणिक कथा से भी जोड़ा जाता है। अत. उस रूप मे होली का दहन प्रह्लादाख्यान का प्रतीक वन जाता है। कुछ लोग होली और वसंतोत्सव को एक ही मानते हुए होली जलाने को काम-दहन की पौराणिक कथा के प्रतीक के रूप मे देखते है। होली व्युत्पत्ति के अनुसार 'होला' से सम्वन्धित होने के कारण, कृषि से सम्वन्धित पर्व है, जवकि किसानों की फसलें खेतों में पकी खडी हो जाती है और किसान उन फसलो के अन्न को भूनकर खाते है तथा मित्रों में वाँटते है। अत: साँस्कृतिक दृष्टि से होली कृपक-संस्कृति का पर्व प्रतीक भी दिखाई देती है।

होली खेलना और उसके वाद परस्पर स्नेह और प्रेम से मिलना इस त्यौहार का दूसरा रूप है, जो समाज के सव वर्गो के मध्य पारम्परिक प्रेम, सौहार्द और उल्लास की वृद्धि करनेवाला तथा द्वेष, कलुष आदि का नाश करनेवाला है। अत: इस रूप मे यह मानव जीवन के पुनरुत्थान की अभिव्यक्ति का सूचक वार्पिक पर्व है।

होली के प्रचलित रूप मे स्त्री-पुरुपो का स्वच्छद व्यवहार, अश्लील गीत या मजाक आदि को देखने से ऐसा लगता है कि इस पर्व के वहाने स्त्री और पुरुष अपने ऊपर लादे गये सामाजिक नियमो और वंधनों को उतार फैंकते हैं और एक दिन के लिए पूर्ण स्वच्छदता के साथ अपनी काम-भावनाओं को अभिव्यक्ति देते है। संभवत: मानव मे आदिम युग की स्वच्छदतावादी प्रवृत्ति अव भी कही-न-कही दवी पड़ी है और अवसर पाते ही वह प्रकट होती है। तव उसे स्वच्छद होने की समाज से स्वीकृति भी मिल जाती है। अत: होली जहा एक ओर आदिम मानव-मन की स्वच्छदतावादी प्रवृत्ति की सामाजिक स्वीकृत्ति की प्रतीक है वहाँ दूसरी ओर वह उसी प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति और उसके द्वारा मानसिक तृप्ति की प्रतीक भी है।

[1] सा०, 3490
[2] सूर ने इस पक्ष का वर्णन नही किया है।

4. फूलडोल

चैत्र के प्रथम पखवाड़े में मथुरा-वृंदावन के मन्दिरों में फूलडोल के उत्सव मनाये जाते हैं। इनमें देव-मूर्तियों का फूलों से शृंगार किया जाता है और मन्दिरों में फूल-बंगले बनाये जाते हैं। ये उत्सव बस्ती से बाहर के बगीची-अखाड़ों में भी मनाये जाते हैं, जहां स्थानीय विद्वानों, कवियों, कलाकारों और पहलवानों के चित्र लगाये जाते हैं; झाड़, फानूस, दर्पण, चित्र, पिछवाई आदि प्राचीन कलात्मक वस्तुओं का प्रदर्शन होता है और गायन-वादन के कार्यक्रम होते हैं।

फूलडोल उत्सव की मुख्य विशेषता फूलों की बहुलता है। पुष्पों से ही शृंगार कर और पुष्पों से ही सज्जित झूले पर नर-नारी झूलते हैं। सूर ने भी फूलडोल की इस विशेषता का वर्णन किया है—

> माई फूले फूले फूलत, श्री राधा कृष्ण हैं
> झूलत, सरस रसहि फूल डोल।
> * * *
> फूले चंपक चमेलि, फूलि लवँग लता
> बेलि, सरस रसहीं फूल डोल।
> * * *
> तहाँ कमल केवरा फूले, केतकी कनेल फूले
> संतनि हित फूल डोल ॥[1]

प्रतीक-व्याख्या

इस फूलडोल में प्राचीन काल में प्रचलित वसंतोत्सव और आधुनिक काल की होली, दोनों का मिला-जुला रूप दिखाई देता है। वसंतोत्सव के समान यह भी पुष्पों का पर्व है जिसमें स्त्री-पुरुष भाँति-भाँति के पुष्पों से सज्जित कर परस्पर मिलते और क्रीड़ा करते हैं।[2] होली की समाप्ति के बाद स्त्री-पुरुष परस्पर मिलते हैं और नव-वर्ष आनेवाली फसल आदि के प्रति परस्पर शुभ-कामनाओं का आदान-प्रदान करते हैं। सम्भवतः होली के इसी सांस्कृतिक महत्त्व को ध्यान में रखकर प्राचीन काल में ही होली के बाद प्रत्येक गाँव में किसी-एक निश्चित दिन डोल आयोजित करने का विधान था, जिसके कारण सभी लोग एक साथ एक स्थान पर एकत्र होकर सामूहिक रूप से नृत्य-गीत आदि का आनन्द लेते हुए पारस्परिक शुभ कामनायें दे सकें। होली का मेले में होने वाले पारस्परिक मिलन वाला तत्त्व फूलडोल के

[1] सा० 3536
[2] वही, 3538

'डोल' शब्द में मिलता है। इस प्रकार 'फूलडोल' परम्परा से प्रचलित वसंतोत्सव और परवर्ती काल में विकसित होली-मिलन का लौकिक प्रतीक है जिसे सामूहिक आनन्द का प्रतीक भी कहा जा सकता है।

5. हिंडोरा

यह वर्षाऋतु का उत्सव है। श्रावण-भाद्रपद के महीनों में बाग-बगीचे और घर आँगन में झूला झूलती हुई व्रज की नारियां और बालक-बालिकाएँ सुरीली तान से मल्हार और हिंडोला गाती है। स्त्रियां ही नहीं, व्रज के पुरुष भी झूलने का आनंद प्राप्त करने को उत्सुक रहते है।

सूर ने कृष्ण तथा गोपियों का झूला झूलने का वर्णन इस प्रकार किया है—

जमुना पुलिन रच्यौ हिंडोर।
घोप ललना संग तरुनी, तरुन नन्द किसोर॥
एक संग लै मचति मोहन, एक देति झुलाइ।
एक निरखति अंग माधुरि इक उठति कछु गाइ॥
स्याम सुन्दर गोपिका गन, रही घेरि बनाइ।
मनु जलद कौ दामिनी गन, चहत लेन लुकाइ॥[1]

प्रतीक-विवेचन

झूले पर झूलना और उससे आनन्दित होना जीवन के स्वरूप को स्पष्ट करता है। जीवन में जिस प्रकार उतार और चढ़ाव होते है, वे ही झूले के उतार-चढ़ाव है और उन उतार-चढावों के मध्य भी झूलने वाला आनन्द का अनुभव करता है। झूले पर झूलना जीवन के उस दर्शन को स्पष्ट करता है कि उतार-चढ़ावों में भी जीवन को आनन्द, उल्लास और उत्साह से विताना चाहिए क्योंकि उतार और चढाव दोनों ही अस्थायी है। इस रूप में यह उत्सव एक समन्वयवादी जीवन-दर्शन की व्याख्या का प्रतीक है।

[1] सा०, 3455

7 दार्शनिक प्रतीक

1. स्वरूप और व्याख्या

जैसा कि इस प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय के 'दार्शनिक प्रतीकवाद' वाले प्रसग में बताया गया है, दर्शन के सूक्ष्म, गहन तथा गंभीर विचारों को साधारण शब्दों के द्वारा व्यंजित नही किया जा सकता। अतएव प्रतीकों का सहारा लिया जाता है। इन प्रतीकों के द्वारा सत्य का स्वरूप स्पष्ट किया जाता है।

सूरदास वल्लभ सम्प्रदाय तथा पुष्टिमार्ग के अनुयायी थे। उन्होंने अपने दार्शनिक विचारों को व्यक्त करने के लिए प्रतीकों का आश्रय लिया है। उन्होंने कुछ परम्परागत प्रतीकों और कुछ नए प्रतीकों को ग्रहण किया है। कही-कही कुछ परम्परागत प्रतीको को नयी अर्थवत्ता प्रदान की है।

2. प्रतीकों का वर्गीकरण

सूर के दार्शनिक प्रतीकों को तीन वर्गों मे बाँट सकते है—

(क) द्योतक प्रतीक

(ख) युग्म प्रतीक

(ग) तांत्रिक प्रतीक

आगे इन प्रतीको पर विस्तार से विचार किया जाएगा।

3. प्रतीक-विवेचन

क) द्योतक प्रतीक

द्योतक प्रतीकों का सम्बन्ध चिंतन से है। द्योतक प्रतीक वे हैं जो स्वतंत्र रूप से ब्रह्म, जीव, माया, संसार, मन, शरीर तथा काल के द्योतक हैं।

1. ब्रह्म के द्योतक नाम प्रतीक

सूर ने अनेक ब्रह्मवाची नाम प्रतीकों का प्रयोग किया है। उनका विवरण नीचे दिया गया है—

अंतरजामी : अंतर्यामी हृदय की बात का ज्ञान रखनेवाला अथवा अंतःकरण में स्थित होकर प्रेरित करनेवाला है। हृदय की बातों का ज्ञान रखनेवाला केवल ब्रह्म ही है और वही भक्त के गुण एवं दोषों को समग्रता के साथ जानकर उनपर कृपा करता है। अतएव 'अंतर्यामी' शब्द ब्रह्म के भक्तों के हृदय की बातों को जानने के पक्ष को व्यक्त करता है। सूरसागर में भी यह शब्द ब्रह्म के इसी रूप की व्याख्या करता है। उसमें बताया गया है कि भक्त भगवान् के समक्ष अपने अवगुणों को पूर्ण रूप से कहने की आवश्यकता नहीं समझता, क्योंकि ब्रह्म तो उसके हृदय में स्थित होने के कारण सब कुछ जानता ही है—

जानत हौ प्रभु अंतरजामी, जो मोहिं माँझ परी।
अपनें औगुन कहँ लौं बरनौं, पल पल, घरी घरी।[1]

अकल : अकल का अर्थ सर्वांगपूर्ण है। इस विश्व में कोई सर्वांगपूर्ण नहीं है; केवल ब्रह्म ही है। सर्वांगपूर्ण होने के कारण वह सर्वशक्तिमान है और सब असंभव कार्यों को संभव बना सकता है। ब्रह्म स्वयं अपने इस गुण की घोषणा करता है—

पहिले हौं ही हो तब एक।
अमल, अकल, अज, भेद-विवर्जित सुनि विधि विमल विवेक।[2]

अखिल : सर्वांगपूर्ण। अखिल ब्रह्म से सूरदास अपने को मोह-समुद्र से बचाने की प्रार्थना करते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में उनके अतिरिक्त दूसरा कोई ऐसा करने में समर्थ नहीं है—

[1] सा०, 184
[2] वही, 381

तुम तौ अखिल, अनंत, दयानिधि, अविनासी, सुख-रासि ।

* * *

मोह-समुद्र सूर बूड़त है, लीजै भुजा पसारि ।[1]

अज : अज वह है जिसका जन्म न हो । ब्रह्म ही अजन्मा है । सूर ने भी लिखा है—

अज अविनासी, अमर प्रभु, जनमै मरै न सोइ ।[2]

अनंत : अनंत—नहीं है अन्त जिसका, अर्थात् सीमाविहीन । इस विश्व की प्रत्येक वस्तु की सीमाएँ होती हैं । केवल ब्रह्म सीमाओं से परे है । सूर ने ब्रह्म के इस पक्ष को भी स्वीकार किया है—

तुम तौ अखिल, अनंत, दयानिधि, अविनासी, सुख रासि ।[3]

अनादि : जिसका आदि न हो । अर्थात् वह जिसका जन्म न हो, जो शाश्वत और सबसे पूर्व हुआ हो । ब्रह्म के पूर्व दूसरे के होने की कल्पना भी नहीं कर सकते । सूरदास ने ब्रह्म के इस स्वरूप को भी बताया है—

तुम प्रभु अजित, अनादि, लोक-पति, हौं अजान, मतिहीन ।[4]

अविगत : अविगत वह है जिसको किसी भी ढंग से न जाना जा सके । ब्रह्म पंचेन्द्रियों के द्वारा नहीं जाना जा सकता । सूर ने अविगत ब्रह्म को 'रूप-रेख-गुन-जाति-जुगति-बिनु' बताकर उसके स्वरूप की व्याख्या की है और उसे सब प्रकार से अगम्य बताया है—

अविगत-गति कछु कहत न आवै ।

* ० *

रूप-रेख-गुन-जाति-जुगति-बिनु निरालंब कित धावै ।
सब बिधि अगम बिचारहिं तातैं सूर सगुन-पद गावै ।[5]

अविनासी : जिसका विनाश न हो । अर्थात् नित्य रहनेवाला । ब्रह्म ही नित्य है । अन्य सब वस्तुएं अनित्य हैं । एतदर्थ ब्रह्म अविनासी है । आदि एवं सनातन—ये दो विशेषण भी ब्रह्म के इसी रूप के परिचायक हैं । सूर ने ब्रह्म को अविनासी के

[1] सा०, 111
[2] वही, 379
[3] वही, 111
[4] वही, 181
[5] वही, 2

साथ ही आदि एवं सनातन भी बताया है—

आदि सनातन, हरि अविनासी ।[1]

आदि : आदि वह है जो आरम्भ का हो। सदैव जो आदि हो वह शाश्वत होगा। शाश्वत होने के कारण ब्रह्म आदि है। सूर ने ब्रह्म के इस रूप को भी व्यक्त किया है—

आदि निरंजन, निराकार, कोउ हुतौ न दूसर ।[2]

निराकार : आकार होने पर गुण स्वतः स्पष्ट हो जाते हैं। अतः निराकार का तात्पर्य निर्गुण है। निर्गुण ब्रह्म का स्वरूप है। सूर ने इसी स्वरूप की व्याख्या 'रूप रेख नहिं' शब्द से की है—

आदि, अनादि रूप-रेख नहिं, इनतैं नहिं प्रभु और बियौ ।[3]

सरबज्ञ (सर्वज्ञ) : सर्वज्ञ वह है जो सब कुछ जानता है। ब्रह्म ही सब कुछ जानता है। इसी कारण ऐसे सर्वज्ञ ब्रह्म से सूर अपने अज्ञान को बताते हैं—

भजन–प्रताप नाहिं मैं जान्यौ पर्‌यौ मोह की फांसि।
तुम सरबज्ञ, सब बिधि समरथ, असरन-सरन मुरारि ।[4]

इस प्रकार सूर ने ब्रह्म के द्योतक अनेक नाम प्रतीकों का प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त सूर ने ब्रह्म के द्योतक प्रतीकों के रूप में कुछ अन्य शब्दों का भी प्रयोग किया है, जिनका यथास्थान उल्लेख किया जाएगा।

2. जीव के द्योतक प्रतीक : सूरसागर में जीव के विभिन्न द्योतक प्रतीक मिलते हैं—

मृग प्रतीक

अब मेरी राखौ लाज मुरारी।
सकट मे इक संकट उपजौ, कहै मिरग सौं नारी।

*　　*　　*

नाचन कूदन मृगिनी लागी, चरन कमल पर वारी।
सूर स्याम-प्रभु अविगत लीला, आपुहिं आपु संवारी ।।[5]

1 सा०, 621
2 वही, 379
3 वही, 603
4 वही, 111
5 वही, 221

इस पद में मृग और उसकी नारी जीव और बुद्धि की प्रतीक हैं। बुद्धि और जीव के इस संवाद में बताया गया है कि जगत् की जटिलताओं से मुक्त होने पर बुद्धि भगवान् के चरण-कमलों पर न्योछावर हो जाती है।

बैल प्रतीक

भक्ति बिनु बैल बिराने ह्वैहौ।
पाउँ चारि, सिर सृंग, गुंग मुख, तब कैसैं गुन गैहौ।
चारि पहर दिन चरत फिरत बन, तऊ न पेट अघैहौ।
टेढ़ू कंधऽरु फूटी नाकनि, कौ लौं धौं भुस खैहौ।
लादत, जोतत लकुट बाजिहै, तब कहँ मूँड़ दुरैहौ ?
सीत, घाम, घन, बिपति बहुत बिधि, भार तरैं मरि जैहौ।
हरि-संतनि कौ कह्यौ न मानत, कियौ आपुनौ पैहौ।
सूरदास भगवंत-भजन बिनु, मिथ्या जनम गँवैहौ।[1]

यहाँ बैल जीव के प्रतीक के रूप में वर्णित है। सूर ने विषयोपभोग के लीला क्षेत्र में चरने और स्वच्छन्द विचरण करनेवाले जीव रूपी बैल की प्रवृत्तियों की निंदा की है।

चकई प्रतीक

चकई री, चलि चरन सरोवर, जहां न प्रेम वियोग।
जहं भ्रम-निसा होति नहिं कबहूँ, सोइ सायर सुख जोग।
जहां सनक-सिव हंस, मीन मुनि, नख रवि-प्रभा प्रकास।
प्रफुलित कमल, निमिष नहिं ससि-डर, गुंजत निगम सुवास।
जिहिं सर सुभग मुक्ति-मुक्ताफल, सुकृत,-अमृत-रस पीजैं।
सो सर छांड़ि कुबुद्धि विहंगम, इहां कहा रहि कीजै।[2]

इस पद में सूर ने उस जगत् की कल्पना की है जो शोक, भय, व्याधि, वियोग आदि से विहीन है और जहाँ पहुँचकर जीव अपार शांति और वास्तविक सुख का अनुभव कर सकता है। यहाँ चकई जीव की प्रतीक है।

भृंगी व भ्रमरी प्रतीक

भृंगी री, भजि स्याम-कमल-पद, जहाँ न निसि कौ त्रास।
जहँ विधु भानु समान, एक रस, सो वारिज सुख-रास।

[1] सा०, 331
[2] वही, 337

* * *

मुनि मधुकरि, भ्रम तजि कुमुदिन कौ, राज विवर की ग्रास।
सूरज प्रेम-सिंधु मैं प्रफुलित, तहं चलि करै निवास।[1]

इस पद में सूर ने भृंगी को स्याम के कमल-चरणों की वंदना करने का उपदेश दिया है जहाँ रात का ताप नहीं रहता और जहाँ सूरज तथा चंद्रमा एक समान रहते हैं। आगे सूर ने भ्रमरी को कुमुदनि की आशा छोड़कर उस प्रेम सिंधु में जाकर रहने का उपदेश दिया है जहाँ कमल विकसित रहते हैं। यहाँ भृंगी और भ्रमरी जीव के द्योतक प्रतीक हैं।

सुवा प्रतीक

सुवा, चलि ता वन कौ रस पीजै।
जा वन राम नाम अम्रित-रस, स्रवन-पात्र भरि लीजै।
को तेरौ सुत, पिता तू काकौ, घरनी, घर को तेरौ ?
काग-सुगाल-स्वान कौ भोजन, तू कहै मेरौ-मेरौ।
वन बारानसि मुक्ति-क्षेत्र है, चलि तोकौं दिखराऊँ।
सूरदास साधुनि की संगति, बड़े भाग्य जो पाऊँ॥[2]

इस रूपक में सुवा जीव के प्रतीक के रूप में चित्रित है। इसमें जीव को सांसारिक जीवन की निस्सारता और प्रभु-मिलन का रहस्य बताया गया है।

हंस प्रतीक

सूर ने हंस को भी जीव के प्रतीक के रूप में लिया है—

जा छन हंस तजी यह काया, प्रेत प्रेत कहि भागी।[3]

इस प्रकार सूर ने मृग, बैल, चकई, भृंगी, मधुकरि, सुवा और हंस को जीव के द्योतक प्रतीकों के रूप में प्रयुक्त किया है। जीव के कुछ अन्य द्योतक प्रतीकों का उल्लेख अगले प्रसंग में मिलता है।

3. संसार के द्योतक प्रतीक

सूर ने जीव का संसार से संबंध बादर-छाँह, धूम-धौराहर और सुवा-सेमर के समान अशाश्वत बताया है—

[1] सा०, 339
[2] वही, 340
[3] वही, 79

पूतना और कमली की प्रतीकात्मकता पर पीछे विचार किया गया है। अन्य प्रतीकों पर यहाँ विचार किया जायेगा।

सूरदास ने माया को एक पद[1] मे नारी के रूप मे चित्रित किया है। वह ऐसी नारी है जो लाल चोली पहनती हो, उस पर सफ़ेद दुपट्टा शोभा देता हो और जिसकी कटि में नीले रंग का लहंगा हो। उसकी चोली को देखकर ब्रह्मा ने धोखा खाया था। देवता उसके दुपट्टे पर रीझ गये थे। उसके अंतरपट को देखकर राक्षस मद-मत्त हो गये थे। उसकी किंचित् दृष्टि मात्र ने शिव पर जादू किया था। सब लोग योग के विधान को भूल गये थे और उनमें काम-क्रोध-मद आदि का संचार हो गया था। लोक-लज्जा उनसे बिछुड़ गयी थी। यहाँ नारी के द्वारा माया के व्यापक प्रभाव का चित्रण किया गया है।

माया नटी है। वह लोगो के सिर पर चढकर, उनकी आँखे बंदकर नाचती है—

ताके मूँड चढ़ी नाचति है मीचति नीच नटी।[2]

वह हाथ में लकुटि को लेकर उन्हें अनेक प्रकार से नचाती है—

माया नटी लकुटि कर लीन्हे कोटिक नाच नचावै।[3]

माया मोहिनी भी है। मोहिनी ने अमृत के बँटवारे के समय अपने मोहक रूप से राक्षसों को भ्रम मे डालकर उन्हें उससे वंचित कर दिया था। माया भी सारे जगत् को मोहित कर देती है।[4] वह लोगो को अंधा बनाकर उन्हें रुलाती है।

माया कामिनी भी कही गयी है, क्योंकि वह लोगो के मन मे काम-भाव जगाकर उन्हें चंचल बनाती है। उसने महायोगी शंकर के मन को भी हर लिया है—

सकर कौ मन हर्यौ कामिनी।[5]

माया लोगों को सन्मार्ग से विचलित करती है। इसी कारण सूरदास ने उसे उस गाय के रूप में चित्रित किया है जो बार-बार रोकने पर भी दिन-रात वेद रूपी वन के ऊख को उखाड़ती फिरती है—

[1] सा०, 44
[2] वही, 48
[3] वही, 42
[4] वही, 621
[5] वही, 43

माधौ जू, यह मेरी इक गाय ।

*　　　　*　　　　*

यह अति हरहाई, हटकत हूँ बहुत अमारग जाति ।
फिरति वेद-वन-ऊख उखारति, सब दिन अरु सब राति ।[1]

माया लोगों को अक्रम काम-सम्बन्धों के प्रति प्रेरित करती है । इस विषय में वह उस दासी के समान है जो पर-पुरुषों को पर-वधुओं से मिलाती रहती है ।

ज्यों दूती पर-वधु भोरि के, लै पर-पुरुष दिखावै ।[2]

शिवभक्त रावण, बलवान दुर्योधन, महामुनि नारद, तपस्वी शंकर आदि माया के शिकार हुए । इसीलिए उसकी तुलना साँपिनी से की गयी है, जिसके विष से किसी का बचना बहुत मुश्किल है ।

इस प्रकार सूर ने नारी, नटी, मोहिनी, गाय, दासी, साँपिनी आदि को माया के द्योतक प्रतीकों के रूप में ग्रहण किया है ।

ख) युग्म प्रतीक

भ्रमर और कमल

सूर ने भ्रमर और कमल के सम्बन्ध द्वारा जीव और परमात्मा के अनन्य-प्रेम को अभिव्यक्त किया है—

भौंरा भोगी वन भ्रमें, (रे) मोद न मानै ताप ।
सब कुसुमनि मिलि रस करै, (पै) कमल बँधावै आप ।[3]

यहाँ भौंरा जीव का, वन संसार का और कमल परमात्मा का प्रतीक है । जीव संसार के विषय-भोगों में कितना ही क्यों न लिप्त रहे, पर अंत में उसकी मनोवृत्तियाँ परमात्मा की ओर उन्मुख होंगी । इसमें जीव और परमात्मा की 'द्वैत' भावना के साथ अद्वैत की झलक मिलती है ।

सूर ने अन्यत्र भ्रमर तथा कमल के संबंध के द्वारा गोपियों तथा कृष्ण के प्रेम की ओर भी संकेत किया है—

सूर भृंग जो कमल के विरही,
चंपक वन लागत चित थोरे ।[4]

[1] सा०, 51
[2] वही, 42
[3] वही, 325
[4] वही, 4473

यहां भृंग जीव रूपी गोपियों का, कमल परमात्मा रूपी कृष्ण का और चम्पक वन संसार के विषयादि का प्रतीक है। कवि ने यह बताया है कि जिस प्रकार भ्रमर कमल के विरह में चम्पक वन की ओर आकृष्ट नहीं होता, उसी प्रकार गोपियाँ कृष्ण के विरह से पीड़ित होने पर भी संसार की विषय-वासनाओं में चित्त नहीं लगाती हैं।

इस प्रकार सूर ने भ्रमर और कमल के सम्बन्ध द्वारा जीव और परमात्मा तथा गोपियों एवं कृष्ण के अनन्य-प्रेम को अभिव्यक्त किया है।

मीन तथा नीर

मीन नीर से अधिक प्रेम करती है। ज्यों ही मीन नीर से अलग की जाती है, त्यों ही उसके वियोग में वह अपने प्राण छोड़ देती है। इससे मीन का नीर के प्रति प्रेम स्पष्ट होता है।

सूर ने एक स्थान पर मीन के नीर के प्रति होनेवाले प्रेम के द्वारा माया के प्रति इंद्रियों के प्रेम को व्यंजित किया है—

नीर अति गम्भीर माया, लोभ लहरि तरंग।
लिए जात अगाध जल कों गहे ग्राह अनंग।
मीन इन्द्री तनहिं काटत, मोर अघ सिर भार।[1]

ग) तांत्रिक प्रतीक

तांत्रिक दर्शन में निरंजन, सुरति, अनहद आदि प्रतीकों के द्वारा साधक सत्य या यथार्थ के स्वरूप की अनुभूति प्राप्त करता है। सूर ने सिद्धों, नाथों तथा सन्तों के द्वारा प्रयुक्त कुछ तांत्रिक प्रतीकों को भी ग्रहण किया है। किन्तु उन्होंने अपने विशिष्ट भावानुसार उनको परिणत कर दिया है। आगे कुछ प्रतीकों के विवेचन द्वारा यह बात स्पष्ट की गयी है।

1. **निरंजन :** सन्तों की निरंजन की धारणा में अनिश्चयात्मक और निश्चयात्मक तत्वों का सुन्दर समन्वय है। एक स्थान पर कबीर ने निरंजन को शून्य का वासी कहा है—

कहै कबीर जहं बसहु निरंजन, तहां कछु आहि कि सून्यं।[2]

यहां निरंजन वह है जो सीमा रहित शून्य की स्थिति का वाची होने के कारण असीम बन जाता है। साथ ही वह शब्द रूप ब्रह्म का भी अर्थ देने लगता

[1] सा०, 99
[2] कबीर-ग्रंथावली, डॉ० श्यामसुंदर दास, पृ० 143-164

है। ऐसे ही प्रसंगों में वह आदि निरंजन भी हो जाता है।

जहां निरंजन शब्द ब्रह्म के निश्चयात्मक स्वरूप का वाची अथवा आत्मतत्त्व के रूप में प्रयुक्त हुआ है, वहां वह ससीम रूप में अभिव्यक्त है—

निरंजन अंजन कीन्हा रे, सब आत्म लीन्हा रे।
अंजन माया अंजन काया, अंजन छाया रे॥[1]

सूर की दृष्टि में निरंजन आराध्य के परमपद का शब्द है या 'परमादि तत्त्व' का वाचक शब्द है—

आदि निरंजन निराकार, कोउ हुतौ न दूसर।
रचौं सृष्टि विस्तार भई, इच्छा इक औसर।
पुनि सबकौ रचि अंड, आप में आपु समाये।[2]

यह स्थिति ब्रह्म की भी है जो अपनी इच्छा से सृष्टि-विस्तार करता है। अतः यहाँ निरंजन निश्चयात्मक तत्त्व रूप है। निरंजन और ब्रह्म सूरसागर में समानार्थी शब्द हो गये हैं।

सूरसागर में निरंजन के परमतत्त्व की धारणा अन्यत्र भी की गयी है—

तजत नहीं काहू छनेक। अकल निरंजन विविध भेष।[3]

यहां ध्वनित होता है कि आदि तत्त्व निरंजन अनेक रूपों में अवतरित भी होता है जो हमें अवतार भावना की ओर संकेत करता है।

इस प्रकार सूर ने निरंजन शब्द के परम्परागत अर्थ को ग्रहण करते हुए भी उसकी भावना में अवतार तथा लीला-तत्त्वों का भी समावेश करने का प्रयत्न किया है।

2. सुरति : सिद्धों ने 'सुरति' शब्द का प्रयोग प्रेम तथा रति दोनों ही अर्थों में किया है। नाथों में 'सुरति' शब्दोन्मुख चित्त का रूप मानी गई है।[4] सन्तों ने इसे कहीं श्रुति (नाद) के अर्थ में और कहीं पर स्मृति के अर्थ में ग्रहण किया है।[5] कबीर ने सुरति को शुद्ध-चित्त[6] एवं शून्य में अनुराग रखनेवाले मन[7] दोनों के रूप

[1] कबीर ग्रंथावली, पृ० 190-326
[2] सा०, 379
[3] वही, 3471
[4] कबीर साहित्य की परख, परशुराम चतुर्वेदी, पृ० 251
[5] सिद्ध साहित्य, डॉ० भारती, पृ० 410
[6] पंचतत्त तत्तहि मिले, सुरति समाना मन।
(कबीर ग्रंथावली, पृ० 57)
[7] उलटन पवन चक्र षट् भेदे, सुरति सून्य अनुरागी।

में प्रयोग किया है।

प्रियतम के वियोग में नारी का एक मात्र संबल स्मृति है। तब प्रेम का समस्त केन्द्रीकरण प्रियतम में न होकर प्रियतम की स्मृति में होता है। गोपी-विरह-प्रसंग में सूर ने गोपियों की स्मृति को सुरति शब्द द्वारा व्यंजित किया है—

छिन छिन वहै, सुरति आवति, जब चितवति जमुना तीर।[1]

सूर ने गोपी प्रेम एवं विरह की अगाधता में भी सुरति की महत्ता व्यंजित की है—

अ) सुन्दर वदन निहारन कारन, अन्तर लगी सुरति की डोरी।[2]
आ) सूरदास प्रभु गिरवर के संग, सुरति समुद्र तरी।[3]

यहां 'सुरति की डोरी' प्रेम में और 'सुरति समुद्र' वियोग में सुरति की महत्ता के द्योतक हैं।

सूर ने सुरति को रति-क्रीड़ा की प्रतीक के रूप में भी अपनाया है—

सूरदास मनहरन रसिक वर
राधा संग सुरति रस भीनी।[4]

इस प्रकार सूर ने सुरति को स्मृति तथा रति की प्रतीक के रूप में प्रयोग किया है।

3 सहज : 'सहज' का साधारण रूप में स्वाभाविक या सरल का अर्थ लगाया जाता है। इस दृष्टि में 'सहज' स्वाभाविकता या सरलता का प्रतीक है।

सिद्धों में 'सहज' शब्द प्रवृत्तिमूलक मार्ग का प्रतीक था। इसके अतिरिक्त 'सहज' एक ऐसी साधना-पद्धति के रूप में भी ग्रहीत था जिसमें पुरुषतत्त्व और शक्ति-तत्त्व का समागम होता है।[5] नाथों ने सहज को परमपद तथा ज्ञान केलिए, परमतत्त्व केलिए और योग-साधना की मिथुन-परक-क्रिया के लिए ग्रहण किया है। सन्तों ने नाथ-पन्थ की परम्परा को ही प्राय: अपनाया है।[6]

(कबीर ग्रंथावली, पृ० 268/12

[1] सा०, 4335

[2] वही. 1643

[3] वही, 3275

[4] वही, 2611

[5] सिद्ध साहित्य, डॉ० भारती, पृ० 368

[6] हिन्दी काव्य में प्रतीकवाद का विकास, डॉ० वीरेन्द्र सिंह, पृ० 173

सूर ने 'सहज' को स्वाभाविकता एवं सरलता के अर्थों में लिया है—

सहज रूप की रासि राधिका, भूपन अधिक विराजै ।[1]

सूर ने 'सहज' शब्द द्वारा गोपियों की भक्तिपरक जीवन-साधना भी व्यंजित की है—

देह दसा कुल कानि लाज तजि
सहज सुभाउ रह्यौ सुधर्‌यौ ।[2]

इस 'सहज सुभाउ' के कारण गोपियों की वाणी भी सहज हो गई है—

पर वस भई फिरति संग निसि दिन, सहज परी यह वानि ॥[3]

सूर ने उस 'सहज' समाधि का भी वर्णन किया है जिसका सम्बन्ध योग-समाधि से न होकर उस तल्लीनता और पूर्ण आत्मसमर्पण की दिशा मे है जिसमें साधक का मन, वचन एवं इंद्रियां अपने साध्य से एक रूप हो जाती हैं—

सहज समाधि सारि वपु वानक निरखि, निमेप न लागत ।
परम ज्योति प्रति अंग माधुरी, बरतिँ यहै निसि जागत ॥[4]

सूर ने साकार रूप के माध्यम की सहायता से 'सहज' शब्द द्वारा निर्गुणपरक परमतत्त्व का भी बोध कराया है—

हम अबला मति की सब भोरी, सहज गुपाल उपासी ।[5]

इसमे स्पष्ट है कि सूर ने सहज शब्द के प्रतीकार्थ में स्वाभाविकता, भक्तिपरक जीवन साधना और परमतत्त्व–इन तीन तत्त्वों का विशेष समाहार किया है ।

बौद्ध सम्प्रदाय में प्रचलित 'सहज' शब्द चैतन्य की प्रेम-लक्षणा-भक्ति के बंगाल में प्रसार के बाद, एक भिन्न वैष्णव सम्प्रदाय के द्वारा भिन्न अर्थ में ग्रहण किया गया। इस शब्द के ग्रहण के कारण ही यह संप्रदाय सहजिया संप्रदाय कहलाया। यद्यपि इस सम्प्रदाय में 'सहज' बौद्धों के जैसा अनिर्वचनीय ही माना गया है, तथापि इसकी व्याख्या करते समय इसे शुद्ध प्रेम जैसा रूप दिया गया है। कृष्ण परमतत्त्व अमित शक्ति रूपी राधा के साथ सहज रूप में रहते हैं और उससे कभी अलग नही होते। राधा उनमें स्वभावतः निहित रहती हैं। इस सम्प्रदाय के प्रमुख

[1] सा०, 2445
[2] वही, 1454
[3] वही, 2274
[4] वही, 4149
[5] वही, 4545

प्रचारक चण्डीदास थे।

4. **मुद्रा** : साहित्य मे प्रायः मुद्रा का प्रयोग तीन अर्थों में हुआ है—

क) शारीरिक अगो की स्थिति जैसे भूस्पर्श, मुद्रा, अभय मुद्रा।

ख) बाह्य चिह्न जैसे कुण्डल आदि।

ग) साधना मे मोद प्रदान करनेवाली अवस्थायें।

सिद्ध तथा नाथ साहित्य में मुद्रा का प्रयोग अधिकतः दूसरे और तीसरे अर्थ में किया गया गया है। काण्हपा ने स्वर तथा व्यंजनों के नूपुर और सूर्य-चंद्र रूपी कुण्डलों का उल्लेख किया है।[1] शबरपा ने शबरी को कर्ण कुंडलों के रूप में वज्र कुंडल धारण किए हुए चित्रित किया है।[2] नाथ-साहित्य में भी ये मुद्राये चंद्र-सूर्य की ही प्रतीक थी। उसमे मुद्रा साधना की ही एक विशेष परिधि को पार कर लेने की चिह्न मानी जाने लगी थी। जब तक साधक चंद्र सूर्य की समता नही स्थापित कर लेते थे तब तक वे मुद्रा धारण करने के योग्य नहीं समझे जाते थे।[3]

सिद्धों के अनुसार आनंद के चार मुख्य प्रकार है—प्रथमानन्द, परमानन्द, विरमानन्द और सहजानन्द। प्रथमानन्द आलिंगन, चुंबनादिक से प्राप्त होने वाला विचित्र क्षण का आनन्द है। परमानन्द ज्ञान-सुख का योग है। विरमानन्द समागम सुख की भाँति है। सभी राग-विरागो से वर्जित सहजानन्द सर्वश्रेष्ठ है। इन आनन्दों को प्राप्त कराने वाली क्रमशः चार मुद्राएं है—कर्म मुद्रा, धर्म मुद्रा, ज्ञान मुद्रा, और महामुद्रा। इस प्रकार सिद्धों में मुद्राये साधक को आनन्द प्रदान कराने वाली स्थितियाँ मानी गयी थी। इसी अर्थ मे मुद्रा को नारी रूप मे परिकल्पित किया गया और मुद्रा-मैथुन मे स्त्रियो का उपभोग उनके यहाँ आवश्यक अनुष्ठान माना गया।[4] किन्तु वे इन साधनाओ को केवल भौतिक अर्थ में ग्रहण नही करते थे।

नारी रूप मे मुद्रा को धारण करने की बात सिद्धों से नाथो में आयी। नाथों में महामुद्रा प्रज्ञा और उपाय तथा शिव और शक्ति के मिलन का 'युगनद्ध' आनन्द-परक स्वरूप था।[5]

लेकिन आगे चलकर नारीपरक इस साधना ने अत्यन्त कलुषित एवं वासना-

1 बा० चर्यापद, पृ० 118, पद 11

2 वही, पृ० 133, पद 28

3 नाथ सम्प्रदाय, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० 7

4 सिद्ध साहित्य, धर्मवीर भारती, पृ० 219-20

5 गोरक्ष सिद्धांत संग्रह, स गोपीनाथ कविराज, पृ० 20

पूर्ण रूप ग्रहण किया। इस प्रकार मुद्रा-प्रतीक के अर्थ का पतन हुआ।[1] इसी कारण कबीर ने मुद्रा तथा अन्य बाह्य क्रियाओं के प्रति अपना असंतोष व्यक्त किया है—

क्या सींगी मुद्रा चमकावे, क्या विभूति सब अंग लगावे।[2]

अन्यत्र कबीर ने मुद्रा के वास्तविक स्वरूप को बताया है—

सो जोगी जाके मन में मुद्रा, रात दिवस न करई निद्रा।[3]

यहाँ मुद्रा मानसिक चेतना की प्रतीक है। मुद्रा एक ऐसी अवस्था है जहाँ पर साधक अहर्निश परमतत्व में निमग्न रहता है। ऐसी मुद्रा का वर्णन दादू ने भी किया है—

सहजै मुद्रा अलप अधारी, अनहद सिंगी रहणि हमारी।[4]

सूर ने निर्गुण तथा तांत्रिक अनुष्ठानों की सापेक्षता में प्रेमपरक साधना की महत्ता व्यंजित करने के लिए इस शब्द का प्रयोग किया है—

मुद्रा स्याम अंग आभूषन, पतिब्रत तैं न टरौं।
सूरजदास यहै ब्रत मेरैं हरि पल नहिं बिसरौं।[5]

सूर ने योग प्रणाली के उपकरणों के अन्तर्गत भी मुद्रा का उल्लेख किया है—

सृंगी, मुद्रा, भस्म, त्वचा मृग, अरु अवरावन पौन
हम अबला अहीरि सठ मधुकर, धरि जानहिं कहि कौन।[6]

यहाँ 'मुद्रा' योग के एक विशिष्ट उपकरण की प्रतीक है जिसके लिए गोपियाँ अपने प्रेम का बलिदान करना नहीं चाहती हैं। इस प्रकार सूर की गोपियों ने मुद्रा के प्रति उदासीनता व्यक्त की है।

सूर ने मुद्रा के प्रतीक रूप में एक रोचक अर्थ का समावेश किया है। उन्होंने सगुण उपासना पद्धति के विपरीत पड़ने वाली समस्त भावनाओं को 'माटी मुद्रा' की संज्ञा दी है। सूर की गोपियाँ उद्धव को व्यंग्य करते हुए कहती हैं—

1 हिंदी काव्य में प्रतीकवाद का विकास, डॉ० वीरेन्द्र सिंह, पृ० 175
2 कबीर ग्रंथावली, पृ० 307/355
3 वही, पृ० 158/205
4 स्वामी दादू दयाल की बानी, पृ० 455/231
5 सा०, 4170
6 वही, 4309

जिन मोहन अपने कर कानन, करन फूल पहिराए।
तिन मोहन माटी के मुद्रा, मधुकर हाथ पठाए।[1]

यहां मुद्रा के प्रति गोपियों का असंतोष स्पष्ट लक्षित होता है।

5. **योगिनी :** महामुद्रा के अनेक वाचक शब्दों[2] में योगिनी एक है। महामुद्रा की साधना जिस स्त्री-नायिका के साथ की जाती थी उसे योगिनी भी कहते थे। सिद्धों की साधना में योगिनी का विशेष महत्त्व था। योगिनी के गाढ़ालिंगन में वे सहज की साधना करते थे—

जोइणि गाढ़ालिंगणहि वज्जिल लहु उपसण्ण
तनपआणिअ तेहि खणे हण्णे दिवअण णडिण्णा।[3]

गोरखबानी में भी एक स्थान पर महामुद्रा रूपी महायोगिनी का उल्लेख है—

महामुद्रा अजब नग्नी महां जोगणी स्यंभू बोलिये।[4]

कबीर ने योगिनी को शुद्ध चित्त की प्रतीक के रूप में प्रयुक्त किया है—

काम क्रोध दोऊ भया पलीता तहाँ जोगिणी जागी।[5]

यहां यह बताया गया है कि योगिनी के जागृत होने पर काम-क्रोध का नाश हो जाता है—

सूरसागर के नवम स्कंध में कवि ने सिन्धु-तट पर सुग्रीव, अंगद आदि के आने पर योगिनी जागृत होने का उल्लेख किया है—

चले तब लपन, सुग्रीव, अंगद, हनू, जामवंत, नील, नल सबै आए।
भूमि अति डगमगी जोगिनी सुनि जगी, सहस फन सेस को सीस
कांप्यौ।[6]

यहां पर सेना के चलने से होनेवाली हलचल के कारण योगिनी, जो अब तक समाधि-स्थित थी, जागकर चैतन्य होने की बात बताई गई है। इस प्रकार यहां पर महामुद्रा के एक स्वरूप योगिनी का वर्णन किया गया है।

[1] सा०. 4284
[2] लाकिनी, शाकिनी, राकिनी, डाकिनी, यक्षिणी, योगिनी आदि।
[3] सरहपा, बा० दोहा कोष, पृ० 11
[4] गोरखबानी, पृ० 25
[5] कबीर ग्रंथावली, पृ० 168/236
[6] सा०, 550

6. वज्र : सिद्धों में शिव और शक्ति का युगनद्ध रूप ही वज्र की धारणा से संबंधित हो गया था। कबीर ने शब्दार्थ को ग्रहण करते हुए वज्र को कठोरता के प्रतीक के रूप में ग्रहण किया है—

धरे ध्यान गगन के मांही, लाए वज्र किवार।
देखि प्रतिमा आपनी, तीनिउ भए निहाल।[1]

सूर ने भी कबीर का ही अनुसरण किया है—

वज्र धातनि करौं चिरकुट, देउ धरनि मिलाइ।[2]

7. अनहद : तांत्रिक अनुष्ठान के अनुसार जब साधक उन्मनि दशा को पहुँचता है तब अनहद नाद को सुनता है। अनहद का श्रवण और उसकी अनुभूति को कबीर ने ब्रह्म-साक्षात्कार का माध्यम माना है। दादू के अनुसार अनहद सुनने की स्थिति में ब्रह्मानन्द प्राप्ति और सृष्टि का संपूर्ण प्रसार निहित है—

सबद अनहद हम सुना, नख सिख सकल सरीर।
सब घटि हरि हरि होत है, सहज ही मन थीर।[3]

एक पद में सूर की गोपियाँ अपने प्रेम-मार्ग का योग-मार्ग से रूपक बाँधती हुई मुरली की ध्वनि को अनहद नाद कहती हैं—

मुरली अधर श्रवन धुनि सो सुनि, सबद अनाहद जाने।
बरषत रस रुचि बचन संग सुख, पद आनंद समाने।[4]

यहाँ 'अनहद' परंपरागत अर्थ का ही द्योतक है।

8. अमृत : अमृत का सम्बन्ध पौराणिक आख्यानों में समुद्र-मंथन की क्रिया से जोड़ा गया है। समुद्र से प्राप्त होनेवाले चौदह रत्नों में अमृत भी एक था जिसे केवल देवताओं को ही पिलाने के उद्देश्य से विष्णु के मोहिनी अवतार की कल्पना की गई। अमृत के कंठ से नीचे उतर जाने के कारण विष्णु द्वारा शिरच्छेद किये जाने पर भी राहु-केतु राहु और केतु—इन दो राक्षसों के रूप में अमर हो गया। अमृत का पान करने के कारण ही देवताओं का एक नाम 'अमर' बना। पुराणकाल में अमृत एक ऐसे पेय का प्रतीक रहा है जो पीनेवाले को अमरता प्रदान करे और मरे हुए व्यक्ति को पुनर्जीवन देने में समर्थ हो।

[1] बीजक, पृ० 425
[2] सा०, 1470
[3] सन्त दादू दयाल की वाणी, पृ० 169
[4] सा०, 3531

सरहपा ने अमृत रस की अपेक्षा शून्यता ज्ञान रूपी अमृत को सर्वश्रेष्ठ बताया था, क्योंकि वह जन्म और मरण दोनों का निषेध कर वास्तविक रूप में साधक को अजरामर बना देता है—

जो एथु जाम मरणे विसंका, सो करइ रस रसानेर कंख।
जे सचराचर तिअस भमन्ति, ते अजरामर किंपि न होन्ति ।।[1]

नाथ-संप्रदाय मे यह धारणा प्रचलित थी कि खेचरी मुद्रा में जो चंद्र से झरनेवाले अमृत का निरंतर पान करता है, वह अजरामर होता है।[2]

संतों ने नाथपथियों की भाँति अमृत तथा उसके पर्यायवाची रस, महारस, सहज सुरति रस आदि शब्दो का प्रयोग झरनेवाले अमृत केलिए ही किया है–

अ) सोमवार ससि अमृति झरे, चाखत वेगि तरै निसि तरै।
बाणी रोक्या रहै दुवार, मन मतवाला पीवनहार।[3]

आ) अहनिसि लागा एक सौ, सहज सुरति रस खाइ।[4]

संतो मे अमृत को हरि-रस के रूप मे भी प्रयोग किया गया है। वहाँ चाहे 'अमृत' का स्पष्ट उल्लेख न हो, लेकिन यह स्थिति वही है जो ऊपर के उदाहरणों मे दिखायी पड़ती है–

राम रस पाइया रे तातै बिसरि गये रस और।[5]

इस प्रकार संतो ने 'अमृत' शब्द का रूढ अर्थ के अतिरिक्त एक नवीन अर्थ में भी प्रयोग किया है।

सूर ने कूर्मावतार वर्णन के अंतर्गत 'समुद्र-मथन' वाले प्रसग में समुद्र से मिले हुए रत्नो के अंतर्गत अमृत का भी उल्लेख किया हे और वहाँ वह पौराणिक अमृत के स्वरूप जैसा ही है। अन्य प्रसगो मे उन्होने अमृत शब्द का प्रयोग एक श्रेष्ठ मधुर आनददायिनी परम सतोपजनक और अमर बना देनेवाले पदार्थ के रूप में लिया है–

अ) स्रवन सुधा मुरली पोषै के, जोग जहर न खवाव रे।[6]

आ) जिहि मुख अमृत पियौ रसना भरि, तिह क्यो विषहि पियावै।[7]

[1] बा० चर्यापद, पृ० 129, पद 22
[2] गोरखबानी, पृ० 64,65
[3] कबीर ग्र थावली, पृ० 209/362
[4] श्री दादूदयाल बानी, पृ० 6/71
[5] कबीर ग्र थावली, पृ० 111
[6] सा०, 4235
[7] वही, 4274

सूर ने महारस, हरि रस आदि शब्दों को भी अमृत के पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रयुक्त किया है। सूर की गोपियाँ हरि रस का पान कर माता-पिता, गुरुजन सबसे निर्भय हो जाती हैं–

दूध नहिं, दधि नहीं, माखन नहीं, रीतो माट।
महारस अंग अंगपूरन, कहाँ घर, कहँ बाट॥
मातु-पितु गुरुजन कहाँ के, कौन पति, को नारि।[1]

वे अपने विरह को भी इसी रस में घुलाकर इसी रस में एकाकार हो जाती हैं–

जो तुम कहत अगाध अगोचर
हरि रस तज्यो न जाई।[2]

यहाँ सूर का 'महारस' शब्द हृदयगत माधुर्य-भावना का प्रतीक है।

[1] सा०, 2242
[2] वही, 4557

8 काव्य प्रतीक

1. स्वरूप और व्याख्या

धर्म, दर्शन, संस्कृति, मनोविज्ञान आदि के समान ही काव्य में भी प्रतीकों केलिए पर्याप्त अवकाश होता है। काव्य में शब्द, अर्थ, भाषा, भाव, सौंदर्य आदि के सदर्भ में एक परम्परा का निर्वाह सभी कवियों द्वारा किया जाता है। यदि ऐसा न हो तो हर कवि द्वारा प्रयुक्त एक ही शब्द अलग-अलग अर्थ दे, अथवा एक सौंदर्य-चित्र भिन्न-भिन्न प्रकार की रसानुभूति जगाये। इससे यह स्पष्ट है कि काव्य में उसके सभी उपकरण परंपरा में एक निश्चित रूप ग्रहण कर लेते हैं। जिन रूपों की एक निश्चित अर्थवत्ता अथवा अनुभूति होती है, वे ही प्रतीक बन जाते हैं। रूढ परंपराओं और मान्यताओं को छोड़ने पर नये मूल्यों का प्रतिपादन होता है और तब काव्य में नवीन प्रतीक-योजना होती है। हिंदी का आधुनिक काव्य इस प्रतीक-योजना की दृष्टि से प्राचीन काव्य से भिन्न है। प्रतीक-सृजन में कल्पना का महत्त्व इसी तथ्य में है कि वह दो वस्तुओं को एक रूप में घनीभूत कर देती है और एक नवीन सादृश्य भावना पर आश्रित रूप को जन्म देती है। काव्य में ये प्रतीक बिंब को स्पष्ट करके अनुभूति को तीव्र करते हैं और तब काव्य की आत्मा 'रस' के एक अंग ही बन जाते है। प्रतीकों के द्वारा काव्य के सत्य को आदर्शोन्मुख बनाया जा सकता है और अनुभूति में कार्यो, प्रवृत्तियों, भावनाओं, इच्छाओं आदि का समावेश किया जा सकता है।

2. काव्य-प्रतीकों का वर्गीकरण

काव्य के अन्तर्गत शब्द, अर्थ या भाव तथा रसानुभूति आती हैं। अतः काव्य-सम्बन्धी-प्रतीक भी इन्हीं से संबंधित हैं। सूरसागर में परंपरा से प्रचलित काव्य-प्रतीक भी दिखायी देते हैं। साथ ही कला-प्रतीक भी हैं अतएव सूरसागर के काव्य-प्रतीकों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है–

(अ) कवि समय
(आ) कवि प्रौढ़ोक्तियाँ
(इ) कथानक रूढ़ियाँ
(ई) क्रिया प्रतीक
(उ) लीलावतारी नाम प्रतीक
(ऊ) भ्रमरगीत प्रसंग के प्रतीक
(ए) दृष्टिकूट प्रतीक

3. प्रतीक-विवेचन

अ) कवि समय

'कवि समय' शब्द का प्रथम प्रयोग राजशेखर की काव्य मीमांसा में मिलता है।[1] उनके अनुसार "पिछले विद्वानों ने सहस्रशाखा सांग वेद का अवगाहन कर, शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर, देशान्तरों एवं द्वीपान्तरों में भ्रमण कर जिन बातों को जाना और उन्हें अपने काव्य में स्थान दिया, वे बातें भले ही आज उस रूप में न मिलती हों, फिर भी उनका वैसा वर्णन करना 'कवि समय' है।"[2]

राजशेखर से पहले वामन ने 'काव्य-समय' शब्द का उपयोग किया है। परन्तु 'काव्य-समय' राजशेखर के 'कवि-समय' से भिन्न है और उसका प्रयोग वामन ने व्याकरण, छन्द और लिंग के सम्बन्ध में प्रतिष्ठित कवि-परिपाटी के अर्थ में किया है। राजशेखर के परवर्ती आचार्यों ने कवि-समयों का जो वर्णन किया है, वह प्रायः राजशेखर के आधार पर।

राजशेखर द्वारा उल्लिखित कुछ कवि समय ये हैं[3]—

1. चन्द्रमा के कलंक को खरगोश या हिरन मानना।

[1] कवि समय मीमांसा, विष्णु स्वरूप, पृ० 20

[2] पूर्वे हि विद्वांसः सहस्रशाखं साङ्गं च वेदमवगाह्य, शास्त्राणि चावबुध्य, देशान्तराणि द्वीपान्तराणि च परिभ्रम्य, यानर्थानुपलभ्य प्रणीतवन्तस्तेषां देशकालान्तरवशेन अन्यथात्वेऽपि तथात्वेनोपनिबन्धो यः स कविसमयः। (काव्य मीमांसा, अध्याय 14)

[3] हिन्दी साहित्य कोश, प्रथम संस्करण, संवत् 2015, पृ० 208-9

2. नाग और सर्पों को तथा दैत्य, दानव और असुरों को एक मानना।
3. जलाशय मात्र में हंसों का वर्णन।
4. समुद्र में ही मकरों का वर्णन।
5. ज्योत्स्ना का घड़ों में भरकर ले जाया जा सकना।
6. कृष्णपक्ष में ज्योत्स्ना का और शुक्लपक्ष में अन्धकार का वर्णन न करना।
7. मलयगिरि को ही चन्दन का उत्पत्ति-स्थान मानना।
8. चक्रवाक-मिथुन का रात में अलग रहना।
9. चकोरों का चंद्रिका-पान।
10. दिन में नीलोत्पलों के अविकास का वर्णन करना।
11. वर्षा में ही मयूरों के कूजन एवं नृत्य का वर्णन और कोयल के कूकने का केवल वसंत में ही वर्णन।
12. कुन्द, कुड्मल यथा दांतों की लाली का, कमल-मुकुल आदि के हरे रंग का तथा प्रियंगु के फूलों के पीलेपन का वर्णन न करना।

ऊपर जो कवि-समय बताए गए है, उन सबके सम्वन्ध में प्रतीकात्मकता का संधान और विधान करना संभव नहीं। सूरसागर में वर्णित जिन कवि-समयों की प्रतीकात्मकता की संभावना है, उसका आगे विवेचन किया गया है।

1. चक्रवाक-मिथुन का रात में अलग रहना

कवि समय के अनुसार चक्रवाक और चक्रवाकी दिन में नदी या जलाशय के किनारे मिलते हैं और रात में विछुड़ जाते हैं। सारी रात वियोग में कटती है।[1] इसी कारण चक्रवाक-मिथुन सूर्य से अधिक प्रेम करते हैं।

सूर्योदय के समय चक्रवाक-मिथुन का मिलना और रात में विछुड़ना वहुत ही यांत्रिक ढंग से होता है। इससे चक्रवाक-मिथुन के अनन्य-प्रेम की व्यंजना होती है। इसी कारण चक्रवाक-मिथुन आदर्श प्रेमी-युग्म का प्रतीक माना जाता है। अतः इसके द्वारा लौकिक क्षेत्र में प्रेमिका और प्रियतम तथा अलौकिक क्षेत्र में आत्मा और परमात्मा का सम्वन्ध व्यक्त किया जाता है और चक्रवाक-मिथुन संयोग तथा वियोग शृंगार दोनों में प्रेमी प्रतीक के रूप में प्रयुक्त होते हैं।

[1] अ) असतोऽपि क्रियार्थस्य निवन्धनं, यथा—चक्रवाक मिथुनस्य निशि भिन्नतटाश्रयणं···। (काव्य मीमांसा, राजशेखर, चतुर्थोऽध्याय)
आ) चतुष्टयं समुद्रस्य वियोगः कोकयोर्निशः। (अलंकार चिंतामणि, अजितसेन, अध्याय 1, श्लोक 72)

सूरदास ने उदाहरण अलंकार में चक्रवाक के सूर्य के प्रति होने वाले प्रेम के द्वारा राधा और कृष्ण के अनन्य प्रेम की व्यंजना की है—

अ) पिय तेरैं वस यौं री माई।

* * *

ज्यौं चकोर वस सरद चन्द्र कैं, चक्रवाक वस भान।[1]

आ) स्याम भए राधा वस ऐसैं।

चातक स्वाति चकोर चन्द ज्यों, चक्रवाक रवि जैसें।[2]

एक अन्य प्रसंग में सूर ने इस कवि-समय के द्वारा माया रात्रि-रूप संसार का अतिक्रमण करके नित्य प्रकाश परमसत्ता के दिव्य अलौकिक चरन-सरोवर को प्राप्त करने हेतु आत्मा की आकांक्षा व्यक्त की है।

चकई री चलि चरन सरोवर, जहां न प्रेम वियोग।

जहँ भ्रम निशा होति नहिं कबहूँ, सोइ सागर सुख जोग।[3]

यहां कवि ने चक्रवाकी को आदर्श प्रेमिका की प्रतीक मानकर, उसके द्वारा अलौकिक क्षेत्र में आत्मा और परमात्मा के प्रेम की व्यंजना की है।

2. चकोर का चंद्रिका पान

कवि समय के अनुसार चकोर चंद्र की किरणों का पान करता है।[4] वह रह रह कर दिन में बोला करता है। परन्तु जैसे-जैसे रात्रि का आगमन होता है, वैसे-वैसे उसका बोलना भी मुखर हो उठता है। यह मुखरता उसके उत्साह का एवं चंद्र के प्रति अगाध प्रेम का द्योतक है। कवि लोग इसे निष्फल प्रेम की व्यंजना के प्रतीक के रूप में भी अपनाते हैं। चंद्रमा को एक-टक देखते रहने के कारण चकोर एकटक देखने वाले नेत्रों का प्रसिद्ध उपमान बन गया है। चन्द्रमा तो मुख का प्रसिद्ध उपमान रहा है। सूर ने इन उपमानों को उदाहरण, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलंकारों में प्रयोग करके कृष्ण तथा गोपियों की प्रेम-स्थिति का वर्णन किया है—

अ) हरि छबि देखि नैन ललचाने।

[1] सा०, 2687
[2] वही, 2756
[3] वही, 337
[4] अ) असतोऽपि क्रियार्थस्य निवन्धन, यथा···चकोरप्रियं, चन्द्रिका पानं च। (काव्य मीमामा, राजशेखर, अध्याय 14)
आ) ज्योत्स्ना पेया चकोरै···। (साहित्य दर्पण, विश्वनाथ, अध्याय 7, श्लोक 23)

इकटक रहे चकोर चंद ज्यौं, निमिष विसरि ठहराने ।[1] (उदाहरण)

आ) सूर प्रभु की निरखि सोभा रहे पुर अवलोकि ।
सरद चंद चकोर मानौ, रहे थकित विलोकि ।।[2] (उत्प्रेक्षा)

इ) चित्त चकोर चंद नख अटक्यौ, इकटक पलक भुलान्यौ ।[3] (रूपक)

सूर ने एक स्थल पर चकोर को मुनि और कृष्ण-सखाओं का उपमान मानकर प्रयोग किया है—

प्रात समय उठि, सोवत सुत कौ बदन उघार्यौ नंद ।
धाए चतुर चकोर सूर मुनि, सब सखि-सखा सुछंद ।[4]

इससे स्पष्ट है कि चंद्रमा के प्रति प्रेम स्वभाव के कारण चकोर सूर काव्य में अनन्य प्रेमी का प्रतीक है ।

3. कोकिल का वसंत में बोलना

कवि कहता है कि कोकिल वसंत में ही बोलती है । यह[5] सच है कि ग्रीष्म और वर्षा में भी कोकिल बोला करती है, पर उसके स्वर में जो मिठास वसंत में होती है, वह अन्यान्य ऋतुओं में नहीं । इसी कारण कोकिल वसंत के आगमन की प्रतीक मानी जाती है । कोकिल की कूक प्रेम-भावना को उद्दीप्त करती है । अतएव वह मदन के साधन की भी प्रतीक समझी जाती है । सूर भी वसंत लीला में कोकिल के कूजन का वर्णन करना भूले नही हैं—

अ) कहू कहू कोकिला सुनाई ।
सुनि सुनि नारि परम हरषाई ।[6]

आ) केकी बोलत पिक सुर सनेहि । जुवती मन अति आनंद देहि ।
श्री मदन मोहन सुन्दरता पुंज । श्री राधा संग राजत निकुँज ।[7]

वियोग में कोकिल की कूक विरह को उद्दीप्त करती है । जो कोकिल संयोग में आनन्द प्रदान करती थी, वही कृष्ण के मथुरा चले जाने पर विरहकातुरा गोपियों के विरह को उद्दीप्त करके अधिक पीड़ा पहुँचाती है । इसलिए गोपियाँ कहती है—

[1] सा०, 2866
[2] वही, 836
[3] वही, 2451
[4] वही, 821
[5] ग्रीष्मादौ सम्भवतोऽपि कोकिलाना विरुतस्य बसन्त पत्र: (काव्यमीमांसा, अध्याय 14)
[6] सा०, 3463
[7] वही, 3474

अब वै बातें उलटि गई।

*　　　*

मोर पुकार गुहार कोकिला, अलि गुंजार सुहाई।
अब लागति पुकार दादुर सम, बिनहीं कुंवर कन्हाई।[1]

इस प्रकार सूरसागर में कोकिल वसंत के आगमन तथा मदन के साधन की प्रतीक के रूप में अपनायी गई है।

आ) कवि प्रौढ़ोक्तियां

जो कथन केवल कवि-कल्पना द्वारा निर्मित हो और बाह्य जगत् में जिसकी स्थिति न हो उसे 'प्रौढ़' कहते हैं।[2] चकोर का आग खाना, चातक का स्वाति-नक्षत्र-जल पीना, हंस का क्षीर-नीर विवेक और मुक्ता चुगना हारिल का लकड़ी को आधार बनाना आदि ऐसे अनेक कथन काव्य में मिलते हैं जो लोक-व्यवहार में असंगत अथवा असम्भव समझे जाते हैं। इन्हें कवि प्रौढ़ोक्ति की संज्ञा दी गई है। सूरसागर में मिलने वाली कवि प्रौढ़ोक्तियों और उनकी प्रतीकात्मकता पर आगे विचार किया जायेगा।

1. चकोर का आग खाना : कवि प्रौढ़ोक्ति के अनुसार चकोर अंगारों को चुगता है। सूरसागर में गोपियाँ उद्धव के प्रति अपने प्रेम-मार्ग की दृढ़ता स्पष्ट करने के लिए चकोर के इस स्वभाव को उदाहरण रूप में प्रस्तुत करती हैं—

ऊधौ मन माने की बात।
दाख छुहारा छांड़ि अमृतफल, बिपकीरा विष खात।
ज्यौं चकोर कौं देइ कपूर कोउ, तजि अंगार अघात।[3]

अन्यत्र भी सूर ने उसके इसी स्वभाव का उल्लेख किया है—

हिलग चकोर करी है ससि सौं, पावक चुगत न मानि।[4]

इन प्रसंगों में चकोर के प्रेमी-स्वभाव और अपने प्रेमपात्र के प्रति कर्तव्य की दृढ़ता का बोध होता है। अतः चकोर प्रेमी का प्रतीक है।

2. चातक का स्वाति-नक्षत्र जल पीना : कवि प्रौढ़ोक्ति है कि चातक स्वाति-नक्षत्र में बरसने वाले मेघों के जल से अपनी प्यास बुझाता है, वह दूसरा जल किसी भी परिस्थिति में नहीं पीता यह उसकी अविच्छिन्न टेक है। यदि वह मरते समय भी

[1] सा०, 3817
[2] कविना प्रतिभामात्रेण बहिरसन्नपि निर्मितं। (काव्य प्रकाश, मम्मट, पृ० 85)
[3] सा०, 4640
[4] वही, 3903

पानी में गिर जाय तो चोंच को ऊपर उठाये रखता है और एक बूंद पानी को भी मुंह में जाने नहीं देता। इस प्रकार वह अपनी टेक को निभाने में अत्यन्त जागरूक है।

चातक बड़ा स्वाभिमानी है। स्वाति-नक्षत्र के बादल चाहे बरसें या न बरसें उसकी चिन्ता उसे नहीं। बादलों के न बरसने पर भी वह निराश एवं पीड़ित नहीं होता और बादलों से पानी की याचना नहीं करता। वह केवल बादलों की ओर ताकता रहता है। सूर ने भी लिखा है—

चातक घन केवल मानै।[1]

इस प्रकार हमें चातक की अविचल टेक, बादलों से उसका अनन्य प्रेम, प्रेम में स्वाभिमान और प्रियतम की उदासीनता पर निराश और पीड़ित न होने की प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। इसी कारण वह साहित्य में अनन्य भक्त या आदर्श प्रेमी का प्रतीक माना जाता है।

तुलसीदास ने चातक की अनन्यता के द्वारा अनन्य भक्त का वर्णन किया है—

एक भरोसे, एक बल, एक आस विस्वास।
एक राम-घनस्याम हित, चातक तुलसीदास॥[2]

सूर ने अधिकांश प्रसंगों[3] में चातक को उपमान के रूप में प्रयुक्त कर गोपियों के प्रेम की अनन्यता व्यक्त की है। उन्होंने कुछ प्रसंगों में 'चातक' शब्द का स्वतंत्र रूप में प्रयोग किया है। जब गोपियाँ अपने को 'चातकी' कहती हैं[4] तो वहां 'चातकी' गोपियों के कृष्ण के प्रति रहने वाले अनन्य प्रेम की प्रतीक के रूप में ही प्रयुक्त है।

पावस प्रसंग में एक गोपी दूसरी गोपी से सदा 'पिउ' शब्द रटने वाले चातक की स्तुति करती है—

सखी री चातक मोहि जियावत।
जैसैहि रैनि रटति हौ पिय पिय, तैसैहि वह पुनि गावत।
अतिहि सुकंठ, दाह प्रीतम कै, तारु जीभ न लावत।[5]

[1] सा०, 4171
[2] रामचरित मानस, दोहा 277
[3] द्रष्टव्य : सा०, 2756, 2933, 4181
[4] हम चातकि घन हरि - - - -। सा०, 1745
[5] सा०, 3953

इसमें प्रयुक्त 'तारु जीभ न लावत' शब्दों में चातक की वृत्ति गोपियों के एकनिष्ठ प्रेम में एकाकार लगती है।

अन्यत्र भी सूरदास ने गोपियों के प्रेम के आदर्श की व्यंजना चातक के व्रत द्वारा की है—

> सुनि परिमिति प्रिय प्रेम की (रे) चातक चितवन पारि।
> घन आसा सब दुख सहै, (पै) अनत जाँचै वारि ॥[1]

अपने परमसाध्य 'मेघ' की आशा में चाहे चातक रूपी प्रेमी-भक्त को कितने ही संकटों का सामना करना पड़े, पर उसे तो केवल स्वाति बूंद-चाहिए। इस प्रकार चातक आदर्श भक्त या प्रेमी का प्रतीक है।

3. हंस का क्षीर-नीर विवेक और मुक्ता चुगना : हंस के सम्बन्ध में यह कवि प्रौढ़ोक्ति प्रचलित है कि उसमें क्षीर-नीर विवेक की शक्ति है और वह केवल मुक्ता चुगता है। क्षीर-नीर-विवेक अच्छाई तथा बुराई या ज्ञान तथा अज्ञान के विवेक का प्रतीक है। मुक्ता मुक्तावस्था का प्रतीक है। मुक्ता चुगना मुक्तावस्था को प्राप्त करने का प्रतीक है। इन दोनों दृष्टियों से हंस मुक्तात्मा या परमहंस ज्ञानी का प्रतीक है। सन्तों के साहित्य में हंस शब्द का व्यवहार इसी प्रतीक के रूप में हुआ है—

> अ) कबीर लहर समुद्र की, मोती बिखरे आइ।
> बगुला मंझ न जाणई, हंस चुणै चुणै खाई।[2]
>
> आ) सुन्न सरोवर हंस मन, मोती आप अनन्त।
> दादू चुग चुग चोंच भरि, भोजन जीवइ संत।[3]

सूरसागर में उद्धव और अक्रूर दोनों को मथुरा के हंस बताते हुए गोपियों ने उनके ज्ञान के उपदेश पर व्यंग्य किया है—

> सखी री मथुरा मैं द्वै हंस।
>
> * * *
>
> ये दोउ नीर गभीर पैरिया, इनहिं बचायौ कंस।
>
> * * *
>
> सूर सुजान सुतावन अवलनि, सुनत होत मति अंस।[4]

[1] सा०, 323
[2] कबीर ग्रंथावली, पृ० 78–2
[3] श्री दादू जी वाणी, पृ० 42–59

यहां पर भी हंस परमहंस ज्ञानी का ही प्रतीक दिखायी पड़ता है।

4. हारिल का लकड़ी को आधार बनाना : हारिल पक्षी के सम्बन्ध में कवि प्रौढ़ोक्ति है कि टहनी उसके जीवन का आधार है। वह सदा अपने पाँवों में लकड़ी के एक टुकड़े का सहारा लिये रहता है। वह प्रायः पृथ्वी पर नही उतरता। यदि कभी पानी पीने के लिए उतरता भी है तो लकड़ी के एक टुकड़े का सहारा लेकर ही। इससे हारिल का लकड़ी के टुकड़े के प्रति अनन्य प्रेम व्यक्त होता है। अतः हारिल अनन्य प्रेमी का प्रतीक है। इस प्रौढ़ोक्ति के द्वारा सूर की गोपियों ने कृष्ण के प्रति अपने प्रेम की व्यंजना की है—

> हमारें हरि हारिल की लकरी।
> मनक्रम वचन नन्द नन्दन उर, यह दृढ़ करि पकरी॥
> जागत सोवत स्वप्न दिवस निसि, कान्ह कान्ह जकरी।[1]

इ) कथानक रूढ़ियां

'कथानक रूढ़ियां' वे है जो समान परिस्थितियों में अथवा समान मनःस्थिति और प्रभाव उत्पन्न करने केलिए किसी एक कृति अथवा एक ही जाति की विभिन्न कृतियों में बार-बार आती है।[2] इनको अभिप्राय (motif) भी कहते है। देश तथा विदेश की सब भाषाओं में इन कथानक रूढियों का प्रयोग होता है, चाहे एक-एक भाषा में प्रयुक्त कथानक रूढिया भिन्न-भिन्न क्यो न हों। कथानक रूढियों की लम्बी परम्परा होने के कारण उनके प्रयोग मात्र के द्वारा ही उसकी सारी पृष्ठभूमि तथा भविष्य के परिणाम अथवा सम्भावनाएँ व्यजित की जा सकती है। इसलिए कथानक रूढियाँ भी प्रतीक बनती है। ये कथानक रुढियाँ प्रायः लोक विश्वास अथवा कवि-कल्पना पर आधारित होती है। आगे सूरसागर में प्राप्त होनेवाली कथानक रूढियों पर विचार किया गया है।

1. रूप परिवर्तन

कार्य-विशेष के सम्पादन हेतु रूप-परिवर्तन के असंख्य उल्लेख पुराणो और लोकगाथाओं में मिलते है। यह कथानक-रुढि लोगों के इस विश्वास पर आधारित है कि देवी-देवता, ऋषि-मुनि और असुर अपनी अलौकिक शक्ति से स्वेच्छया रूप-परिवर्तन कर सकते है। इसके प्रयोग से कथा को मोड़ दिया जाता है।

[1] सा०, 4607 .
[2] हिंदी साहित्य कोश, पृ० 185-86

सूरसागर में इस अभिप्राय का विशेष प्रयोग हुआ है। षष्ठ स्कन्ध में इन्द्र गौतम की पत्नी अहिल्या से संभोग करने के उद्देश्य से काग का रूप धारण कर गौतम के आश्रम के पास आकर बोल उठे। गौतम 'प्रातःकाल हुआ है' समझकर स्नान करने नदी पर गये। इन्द्र ने काग-रूप में बोल कर अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार करने गौतम मुनि को आश्रम के बाहर भेज दिया और पतिव्रता अहिल्या के क्रोध से बचते हुए, उसकी किसी आपत्ति (objection) के बिना अपनी इच्छा पूरी करने के लिए उन्होंने उसके पति गौतम का रूप धारण किया। लेकिन जब गौतम को कुटी लौटने पर इन्द्र के छल का पता चला तो उन्होंने उसकी देह पर सहस्त्र भग होने का शाप दिया। बाद में सब ऋषियों के आशीर्वाद देने पर जगदीश ने उनके भगों को नेत्र होने दिया। इस प्रकार रूप परिवर्तन वाले इस अभिप्राय में शाप तथा शापविमोचन वाले अभिप्राय भी जुड़े हुए हैं।

प्रथम स्कन्ध में विष्णु के रूप-परिवर्तन का संकेत मिलता है। जालन्धर नामक एक दैत्य था। उसने शिव से संग्राम करके उन्हें असफल बना दिया। उसे मारना आसान नहीं था, क्योंकि वह बड़ा बलशाली था। उसका बल उसकी पत्नी वृन्दा के शील में था। विष्णु ने शिव की सहायता करनी चाही। तब उसके बल को क्षीण कर तद्द्वारा उसे मारने के उद्देश्य से उन्होंने जालन्धर का रूप धारण कर वृन्दा के सतीत्व को भंग किया।[1] बाद में वे आसानी से उसे मार सके। इस प्रकार रूप-परिवर्तन से विष्णु को जालन्धर के मारने में सहायता प्राप्त हुई।

सूरसागर के अवतार-वर्णन में असुरों के रूप-परिवर्तन के असंख्य प्रसंग मिलते हैं। रामकथा के प्रसंग में मारीच द्वारा हिरण का रूप धारण[2] करके राम और सीता के साथ छल करना, सुरसा द्वारा मुँह फैलाकर हनुमान को रोकने का प्रयत्न[3] और हनुमान द्वारा आकार-परिवर्तन से उसको परास्त करना[4] इसके प्रमुख उदाहरण हैं।

कृष्ण-कथा में कंस के द्वारा भेजे गये राक्षस रूप-परिवर्तन कर छल से कृष्ण को मारना चाहते हैं। अपने सुंदर वेष में पूतना, काग रूप में एक अन्य राक्षस, शकट रूप में शकटासुर, तृणावर्त्त बवंडर के रूप में, बकासुर बक के रूप में, प्रलंब गोप-पुत्र के रूप में, एक राक्षस वृषभ के रूप में और व्योमासुर शिशु के रूप में धोखा देकर कृष्ण को मार डालने के प्रयत्न करते है। किंतु कृष्ण उनके प्रयत्न को विफल

[1] सा०, 419

[2] पतिव्रता जालंधर-जुवती , सो पति-व्रत न टारी। सा०, 104

[3] मृग-स्वरूप मारीच धर्‌यौ तब, फेरि चल्यौ बारक जो दिखाई। वही, 503
तहं इक अद्‌भुत देखि निसिचरी, सुरसा-मुख-विस्तार। वही, 518

वनाते है।[1]

इस प्रकार रूप-परिवर्तन अपने कार्य की सिद्धि पाने के निमित्त दूसरों के साथ छल करने के साधन का प्रतीक है, जिसने व्यक्ति को कभी-कभी पूरी या आंशिक सफलता मिलती है तो कभी कुछ भी नहीं।

2. वेष परिवर्तन

रूप-परिवर्तन से मिलता-जुलता ही वेष-परिवर्तन वाला अभिप्राय है। सीता-हरण के लिए रावण भिक्षुक का वेष धारण करता है–

रावन तुरत विभूति लगाए कहत आइ, भिच्छा दै माई।[2]

इस वेष-परिवर्तन के विना रावण के लिए सीता-हरण संभव नही था। इस घटना के विना रामायण की कथा के लिए गति नहीं थी।

3. आकाशवाणी

आकाशवाणी भारतीय साहित्य में अत्यधिक प्रचलित कथानक रूढ़ि है। यह किसी प्रमुख व्यक्ति की संदेह-निवृत्ति अथवा समस्या-समाधान में सहायक साधन-प्रतीक है। साथ ही यह कुछ रहस्यमय घटनाओं अथवा दैवी वरदान आदि की सूचक प्रतीक है। देववाणी होने के कारण इसकी मान्यता में कोई संदेह नहीं किया जा सकता।

सूरसागर मे इस अभिप्राय के प्रसंग वहुत से है ; यथा–

1. नवम स्कंध में आकाशवाणी का प्रयोग हुआ है जब हनुमान अशोकवन में एक वृक्ष के नीचे वैठी हुई सीता को देखकर संदेह में पड़ते है कि वह सीता है या अन्य कोई स्त्री–

सोच लाग्यौ करन, यहै धौं जानकी, कै कोऊ और, मोहिं नहिं चिन्हारा।
सूर आकासवानी भई तवै तहं, यहै वैदेहि है, करु जुहारा।[3]

इस आकाशवाणी से हनुमान की सदेह-निवृत्ति हुई और उन्हें निश्चित रूप से मालूम हुआ कि वही सीता है।

2. दशम स्कंध में कंस को आकाशवाणी हुई कि देवकी की कोख से उत्पन्न

[1] विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य इसी प्रबंध का चतुर्थ अध्याय, कृष्ण की विस्मयकारक लीलायें।

[2] सा०, 503

[3] वहा, 520

होनेवाला उसके प्राणों को हर लेगा–

याकी कोखि औतरै जो सुत, करे प्रान-परिहारा ।[1]

इस आकाशवाणी से भविष्य-घटना की सूचना और उससे सचेत रहने की चेतावनी कंस को दी गई है । इससे कृष्ण के जन्म के कारण की ओर भी संकेत मिलता है ।

3. प्रद्युम्न-विवाह के समय कलिंग के राजा और रुक्म ने बलराम को चौंसर का खेल खेलने केलिए प्रेरित किया । दोनों ने बलराम से छल किया । सब लोग कहने लगे कि रुक्म की जीत हुई । तब देववाणी हुई कि जीत बलराम की है–

देव बानी भई जीति भई राम की, ताहु पै मूढ नाहीं सम्हारे ।[2]

यहाँ आकाशवाणी ने जीत की समस्या का समाधान प्रस्तुत किया और कलिंग के राजा तथा रुक्म को न्याय की ओर सचेत किया; किन्तु आकाशवाणी की चेतावनी की ओर उन दोनों ने ध्यान नहीं दिया । फलतः वे बलराम द्वारा मारे गये । यहाँ आकाशवाणी का उद्देश्य धर्म की रक्षा है ।

इस प्रकार 'आकाशवाणी' के प्रयोग से कथा में गति आयी है; सत्य के उद्घाटन, धर्म की रक्षा और प्रभाव को तीव्रतर बनाने में सहायता मिली है; कथा को मोड़ देना आसान हुआ है ।

4. अपराध और उसके लिए शाप

लोगों में यह विश्वास है कि देवी-देवता, ऋषि-मुनि आदि अलौकिक शक्तियों से सम्पन्न होते हैं । वे किसी व्यक्ति से प्रसन्न होने पर वर और अप्रसन्न होने पर शाप देते हैं । ये शाप दो प्रकार के हैं—1. ज्ञात अपराध केलिए शाप और 2. अज्ञात अपराध केलिए शाप । शाप देने के पश्चात् उसे लौटाने की शक्ति शाप देनेवाले में भी नहीं होती । वह केवल उसमें कुछ परिवर्तन कर सकता है, उसकी अवधि कम कर सकता है या उससे मुक्ति का उपाय बता सकता है ।

सूरसागर में दोनों ही प्रकार के अपराधों के प्रति शापों का उल्लेख हुआ है । वैकुंठ में विष्णु के जय-विजय नामक द्वारपालों ने सनकादिक को अंदर जाने से रोक दिया । उन्होंने यह अपराध जान-बूझकर किया था; किन्तु अपराध करते समय वे कर्त्तव्य से बाधित थे । फिर भी उन्हें उनके शाप का शिकार होना पड़ा—

[1] वा०, 622
[2] वही, 4815

साप दियौ तव क्रोध ह्वै असुर होहु संसार ।[1]

जय-विजय की प्रार्थना पर हरि ने उसमें कुछ परिवर्तन किया–

तीजे जनम विरोध करि, मोकों मिलि हो आइ ।[2]

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि सनकादिक ने शाप दिया था और हरि ने उसमें कुछ परिवर्तन किया । इस परिवर्तन केलिए सनकादिक सहमत दीख पड़ते हैं ।

इंद्रद्युम्न राजा समाधिस्थ था । उसने अगस्त्य मुनि के आगमन पर ध्यान नहीं दिया । ऋषि ने उसे गजेंद्र होने का शाप दिया –

दियौ साप गजेंद्र तू होहि ।[3]

इंद्रद्युम्न ने यह अपराध जान-बूझकर नहीं किया था । अत: उसकी प्रार्थना पर ऋषि ने उसे शाप की मुक्ति बतायी–

कह्यौ, तोहिं ग्राह आनि जब गैहै । तू नारायन सुमिरन कैहै ।
याही विधि तेरी गति होइ । भयौ त्रिकुट पर्वत गज सोइ ।[4]

इस प्रकार शाप भाषापरक प्रतीक है जिसके द्वारा देवताओं, ऋषियों, मुनियों आदि किसी से अपराध होने पर (चाहे कारण ज्ञात हो या अज्ञात) उसे दंड दिया जाता था । सूरसागर में 'शाप' वाली कथानक रूढ़ि पौराणिक कथाओं की संगति बिठाने, विभिन्न देवी-देवताओं के रूप-स्वरूप, गुण आदि की व्याख्या प्रस्तुत करने या कथा की गति को एकाएक भिन्न दिशा में मोड़ने में सहायक हुई है ।

5. स्वप्न

प्राय: विश्व की समस्त जातियों में स्वप्न संबंधी विश्वास मिलता है । सूरसागर के नवम स्कंध में त्रिजटा के स्वप्न का वर्णन मिलता है । त्रिजटा का स्वप्न भविष्य की घटनाओं तथा उनके परिणामों को बताता है–

सुनि सीता, सपने की बात ।
रामचद्र-लछिमन मैं देखे, ऐसी विधि परभात ।

* * *

[1] सा०, 392
[2] वही, 392
[3] वही, 429
[4] वही, 429

प्रगट्यौ आइ लंक दल कपि कौ, फिरी रघुवीर दुहाई।
या सपने कौ भाव सिया मुनि कबहुँ विफल नहिं जाई।[1]

लोगों का यह विश्वास है कि प्रातःकाल देखा हुआ स्वप्न ठीक निकलता है। त्रिजटा ने भी इस स्वप्न को प्रभात में ही देखा था। अतएव इस स्वप्न की सत्यता में संदेह नहीं किया जा सकता। इस लोकविश्वास का समर्थन तब होता जब ठीक उसी प्रकार की घटनायें घटती हैं जो त्रिजटा को स्वप्न में दिखाई पड़ी थीं। साथ ही थोड़ी देर बाद हनुमान के आ जाने और उनसे लंका-दहन होने से उसकी सत्यता प्रमाणित हो गयी। सभी को यह दृढ़ विश्वास हो गया कि निकट भविष्य में ही रावण की मृत्यु निश्चित है। इस प्रकार त्रिजटा का स्वप्न भविष्य सूचक है।

6. मृत व्यक्ति का जीवित हो उठना

संजीवनी मंत्र द्वारा अथवा अमृत वर्षा द्वारा मृत व्यक्तियों के जीवित हो उठने के असंख्य वर्णन कथाओं में मिलते हैं। कभी-कभी देवताओं द्वारा भी मृत व्यक्ति जीवित कर दिए जाते हैं।

सूरसागर के नवम स्कंध में राम-रावण-युद्ध के अनंतर राम की प्रार्थना पर इंद्र ने अमृत वर्षा की तो वानर-भालू जीवित हो उठे—

सुरपतिहिं बोलि रघुबीर बोले।
अमृत की वृष्टि रन-खेत ऊपर करौ, सुनत बिन अमिय भंडार खोले।
उठे कपि-भालु ततकाल जै-जै करत, असुर भए मुक्त, रघुवर निहारे।[2]

लेकिन उस अमृत वर्षा की विशेषता यह थी कि उससे राक्षस जीवित नहीं हुए। अभिप्राय के प्रयोग की कुशलता यहां दर्शनीय है।

कच-देवयानी कथा में शुक्र ने असुरों से मारे गए कच को अपनी पुत्री देवयानी की प्रार्थना पर संजीवनी मंत्र पढ़कर जिलाया। आगे उसी कथा में कच ने भी संजीवनी मंत्र पढ़कर अपने गुरु शुक्र को जिलाया।[3]

विनय-पदों में कृष्ण द्वारा गुरु के मरे हुए पुत्र को जिलाने का उल्लेख भी मिलता है—

मृतक जिवाइ दिए गुरु के सुत।[4]

[1] सा०, 527
[2] मानस-मयूख, वर्ष 2, प्रकाश 1, लेख, रामचरित मानस मे व्यवहृत कथानक रूढ़ियाँ, लेखक : डॉ० रामबाबू शर्मा, पृ० 63
[3] सा०, 607
[4] वही, 27

इस प्रसंग में अमृत उस द्रव पदार्थ का प्रतीक है जो मरे हुए लोगों को जीवित करता है। संजीवनी मंत्र भाषापरक प्रतीक है जिसके उच्चारण मात्र से मृत जीवित हो उठता है।

7. प्रतीति के लिए परीक्षा

यह कथानक रूढ़ि भारतीय लोक कथाओं में अधिक प्रचलित है। शत्रुओं के द्वारा विलग हुए नायक-नायिका इस रूढ़ि से ही एक दूसरे के दूतों की बातों पर विश्वास करके भविष्य-कार्यक्रम का निर्णय कर सकते हैं। इसका प्रयोग विश्वास उत्पन्न करने केलिए किया जाता है।

सूरसागर के नवम स्कन्ध में इस कथानक रूढ़ि का प्रयोग मिलता है। अशोक वन में सीता से मिलकर हनुमान ने अपने आगमन के बारे में बताया। उन्होंने उसे राम की अँगूठी दिखाई। इससे भी सीता को उन पर विश्वास नहीं हुआ। सीता का सन्देह था कि कोई निशाचर वानर रूप धारण कर आया हो। उसने हनुमान की परीक्षा ली—

> वनचर, कौन देस तैं आयो ?
> कहाँ वै राम कहाँ वे लछिमन, क्यों करि मुद्रा पायौ।[1]

हनुमान ने अपने और राम के साथ होने की पूरी कथा कही। तब सीता ने उनसे एक और प्रश्न किया—

> कहो कपि, कैसैं उतरे पार ?
> दुस्तर अति गंभीर वारि-निधि, सत जोजन विस्तार।[2]

हनुमान ने इस शंका का समाधान किया—

> राम प्रताप सत्य सीता को, यहै नाव कन-धार।
> तिहिं अधार छिन मैं अवलंघ्यो आवत भई न वार।[3]

हनुमान की इन बातों से सीता को उनपर विश्वास हो गया।

चतुर्थ स्कन्ध में ध्रुव के भक्ति-भाव की नारद द्वारा ली गई परीक्षा भी इसी अभिप्राय के अन्तर्गत आती है।[4]

[1] सा०, 532
[2] वही, 533
[3] वही, 533
[4] वही, 403

8. भगवान् का प्रकट तथा अन्तर्ध्यान होना

भक्तों की प्रार्थना, तपस्या अथवा यज्ञ करने पर उनके कार्य-संपादन में सहायता देने अथवा उनकी मनोकामना को पूरी करने केलिए भगवान के प्रकट होने और अपनी कार्य-समाप्ति पर उनके अन्तर्ध्यान होने की कल्पना लोक में व्याप्त है।

सूरसागर में इस अभिप्राय के अनेक प्रसंग हैं; यथा—

1. ध्रुव की तपस्या से प्रसन्न नारायण ने प्रकट होकर उसे वर दिया।[1]

2. मत्स्य रूप भगवान् सत्यव्रत को प्रलय की सूचना देकर और उसे उससे बचने का विधान बताकर अन्तर्ध्यान हुए।[2]

3. प्रह्लाद की प्रार्थना पर स्तंभ से नरहरि प्रकट हुए।[3]

4. विष्णु के अंश से दत्त ने अवतार लिया।[4]

9. पशु-पक्षी द्वारा सहायता

सूरसागर के नवम स्कन्ध में इस कथानक रूढ़ि का प्रयोग हुआ है। सीता-हरण के समय जटायु सीता को बचाने का प्रयत्न करता है। किन्तु रावण उसके पंख काटकर सीता को ले जाता है। जटायु यह विषय रामचन्द्र को सुनाने के बाद ही प्राण छोड़ता है—

कहि कै बात सकल सीता की, तन तजि चरन कमल चित लायौ।[5]

जटायु का भाई संपाति भी वानरों को सीता के समाचार देकर उनकी पूरी सहायता करता है।[6] वानर और रीछ जैसे पशु भी राम की सब प्रकार की सहायता करते हैं।

10. पाषाण का जीवित हो उठना

यह कथानक रूढ़ि लोक-विश्वास पर आधारित है। सूरसागर के नवम स्कन्ध में राम की अतिमानवीय शक्ति को प्रदर्शित करने के लिए इस कथानक-रूढ़ि का प्रयोग किया गया है। जब श्रीराम का चरण स्पर्श हुआ तब शिला के रूप में पड़ी हुई गौतम की पत्नी अहिल्या सुन्दर रूप धरकर आकाश में चली गयी—

[1] सा०, 403
[2] वही, 443
[3] वही, 421
[4] वही, 397
[5] वही, 510
[6] वही, 517

गई अकास देव तन धरिकै, अति सुन्दर अभिराम ।[1]

इस अभिप्राय का तनिक वदले हुए रूप मे प्रयोग हमे यमलार्जुन उद्धार प्रसग मे दिखाई पड़ता हे । यमलार्जुन वृक्ष रूप मे जड़ थे । कृष्ण ने उन्हे उखाडकर वास्तविक स्वरूप प्रदान किया ।

11. तपस्या-भंग करने हेतु अप्सराओं का जाना

यदि किसी की तपस्या अपने पद के लिए हानिकारक मालूम हो तो उसकी तपस्या भग करने के लिए अलौकिक शक्तियो से सम्पन्न अप्सराओ का भेजा जाना पुराणो मे वहुप्रचलित अभिप्राय है ।

सूरसागर मे 'नारायण अवतार वर्णन' के प्रसंग मे इस अभिप्राय का प्रयोग हुआ है । वदरिकाश्रम मे योग-समाधि मे लगे हुए नारायण की तपस्या को भंग करने के लिए इद्र ने सारी काम-सेना को भेजा जिसका प्रमुख अंग अप्सराएँ थीं—

सुरपति देखत गयौ डराई । काम सैन सग दियौ पठाई ।

*　　*　　*

करत गान गंधर्व सुहाइ । नृत्य भली अप्सरा दिखाइ ।[2]

12. मार्गावरोध

लोक-कथाओ मे यह अत्यन्त प्रचलित अभिप्राय है । कथा के नायक या उसके सहयोगी के किसी महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए जाने पर उसके मार्ग मे अवरोध उत्पन्न किया जाता है ।

सूरसागर के नवम स्कन्ध मे इस अभिप्राय का प्रयोग हुआ है । जव हनुमान सीता की खोज मे समुद्र को लाघ रहे थे तव एक निशाचरी ने अपने शरीर को बढ़ाकर उनके मार्ग को रोकना चाहा—

सुनौ पिता, जल-अन्तर ह्वै कै रोक्यौ मग इक नारि ।
धर-अम्बर लौ रूप निसाचरि, गरजी वदन पसारि ।[3]

हनुमान छोटा रूप रखकर उसके उदर मे घुसे । वहाँ उन्होने खलवली मचाकर उसे मार्ग देने को बाध्य किया । इस प्रकार उन्होने मार्गावरोध को अपनी चतुराई से समाप्त कर दिया । इस अभिप्राय के अन्तर्गत 'रूप-परिवर्तन' वाले अभिप्राय का समावेश किया गया है ।

[1] सा०, 466
[2] वही, 4931
[3] वही, 548

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि अधिकांश कथानक-रूढ़ियों का सम्बन्ध कृष्णावतार की अपेक्षा अन्य अवतारों से ही अधिक है। कृष्णावतार-वर्णन का स्वरूप मुक्तक होने के कारण उसमें कथानक रूढ़ियों के लिए अधिक सम्भावना नहीं है, जिनका प्रयोग प्रायः कथानक को गति देने अथवा प्रभाव या चमत्कार उत्पन्न करने के लिए किया जाता है। राम-कथा में अधिकांश अभिप्रायों का प्रयोग किया गया है क्योंकि उसका रूप प्रबन्धात्मक एवं संयोजित है। राम-कथा सम्बन्धी ये सभी अभिप्राय लोक एवं पौराणिक विश्वासों पर आधारित हैं और प्रायः सभी राम-कथाओं में, विशेषतः रामचरित मानस में इनका प्रयोग और अधिक व्यापक एवं प्रभावशाली बन पड़ा है।

ई) क्रिया-प्रतीक

जिस प्रकार संज्ञायें, विशेषण तथा अन्य शब्द सामान्य अर्थ छोड़कर विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होते-होते रूढ़ होकर प्रतीक बनते हैं, उसी प्रकार जब कुछ क्रियायें सामान्य अर्थ की अपेक्षा विशिष्ट प्रसंगों में विशिष्ट अर्थ में बहुत समय तक प्रयुक्त होते-होते उस विशिष्ट अर्थ में रूढ़ होती हैं, तब वे प्रतीक बन जाती हैं। नीचे सूरसागर में मिलने वाली कुछ क्रियाओं की प्रतीकात्मकता पर विचार किया जाएगा।

1. **आहुति देना**: आहुति से तात्पर्य मंत्र पढ़कर देवता केलिए द्रव्य अग्नि में डालना है। सूरसागर में आहुति देने के कुछ प्रसंग मिलते हैं—

1. सिव-आहुति-बेरा जब आई। विप्रनि दच्छहिं पूछ्यो जाई।[1]
2. आहुति जज्ञकुंड मैं डारी। चह्यौ, पुरुष उपजै बल भारी।[2]

वैदिक काल में यज्ञ आर्य-समाज के जीवन का मूल था। आर्यों के समस्त कार्य यज्ञ के माध्यम से ही संपन्न होते थे। विवाह भी यज्ञ में होते थे और सम्पत्ति का बँटवारा भी यज्ञ में होता था—वही यज्ञ-भाग कहलाता था।

वर्तमान समय में यज्ञ में विभिन्न देवताओं को जो भाग दिया जाता है वह उसी प्राचीनकाल का यज्ञ-रूप है। पहले शिव को देवता नहीं माना गया। अतः उन्हें यज्ञ का अधिकारी न ठहराकर उनके नाम से यज्ञ में आहुति नहीं दी गई, जिसका तात्पर्य था कि देवताओं की सामूहिक संपत्ति में उनका हिस्सा नहीं था।

अतः प्रथम प्रसंग में आहुति, हिस्सा या भाग या संपत्ति को प्राप्त करने के

[1] सा०, 399
[2] वही, 399

अधिकार की प्रतीक के रूप में समझी जा सकती है। दूसरे प्रसंग में वह यज्ञ द्वारा फल-प्राप्ति की प्रतीक है।

2. उदक देना : जब कोई किसी को उसकी माँगी हुई चीज देने के लिए तैयार होता है तो वह अपने निर्णय की निश्चयात्मकता को बताने के लिए उसके हाथ में जल डालता है। इस प्रकार उदक देना माँगी हुई चीज को देने की निश्चयात्मकता अथवा संकल्प का प्रतीक है। एक बार उदक दिया जाता है तो दाता को अपने संकल्प से टलना नहीं चाहिए।

बलि के उदक देने पर बामन ने शरीर को फैलाकर अपना असली रूप प्रकट किया—

जब हीं उदक दियौ बलि राजा, बावन देह पसारी।[1]

बामन का विश्वास था कि अब बलि अपने निश्चय से नहीं टलेगा। शुक्राचार्य के बहुत समझाने पर भी बलि अपने निश्चय से विचलित नहीं हुए।[2]

3. चरण पखारना : लोगों का विश्वास है कि संत महात्माओं के चरण धोकर उस जल को अपने सिर पर डालने से उनकी पवित्रता के प्रभाव से पाप मिट जाते हैं। भरत श्रीराम के पैरों को धोकर चरण-जल को अपने सिर पर डालते हैं—

निज कर चरन पखारि प्रेम-रस आनन्द-आँसु ढरे।

* * *

सूरसहित आमोद, चरन-जल लै करि सीस धरे।[3]

यहाँ 'चरन पखारना', 'मंगल की इच्छा' का प्रतीक है।

4. चरण के अंगूठे को मुख में रखना : कन्हैया मुख में चरण के अंगूठे को रखता है तो सिंधु उछलने लगता, शेषनाग कांपता, कच्छप की पीठ व्याकुल होने, शेषनाग के सहस्र फन डोलने लगते, वटवृक्ष बढ़ता, देवता व्याकुल होते, आसमान में उत्पात होने लगता, तथा महाप्रलय के मेघ उठने लगते हैं—

चरन गहे अंगुठा मुख मेलत

* * *

उछरत सिंधु, धराधर काँपत, कमठ पीठ अकुलाई।
सेष सहसफन डोलन लागे, हरि पीवत जब पाई॥

[1] सा०, 441
[2] वही, 441
[3] वही, 615

बढ्यौ बुच्छ बट, सुर अकुलाने, गगन भयौ उतपात ।
महा प्रलय के मेघ उठे, करि जहाँ-तहाँ आघात ।[1]

इस प्रकार कन्हैया के चरण, अंगूठे को मुख में रखने से प्रलय का वातावरण उत्पन्न होता है । अतएव चरण-अंगूठे को मुख में रखना प्रलय की स्थिति का पौराणिक प्रतीक है ।

5. बीड़ा देना : किसी को काम करने का भार सौंपते समय उसे बीड़ा दिया जाता है । अतः यह काम करने का भार सौंपने का प्रतीक है । कृष्ण को मारने का भार सौंपते समय कंस शकटासुर को बीड़ा देता है—

मुहांचुही सैनापति कीन्ही, सकटैं, गर्ब बढ़ायौ ।

* * *

ह्याँ तैं जाइ तुरत हीं मारौं, कहौ तो जीवत ल्याऊँ ।
यह सुनि नृपति हरष मन कीन्हौ, तुरतहिं बीरा दीन्हौ ।[2]

6. मुख चूमना : 'मुख चूमना' बच्चे के प्रति वात्सल्य भाव की अभिव्यक्ति का प्रतीक है । माता यशोदा कृष्ण का मुख चूमती है—

सूरदास प्रभु कौ मुख चूमति, हृदय लाइ पौढाए पलना ।[3]

गोपियां कृष्ण का मुख चूमकर आनन्द का अनुभव करती हैं—

मुख चूमति लै-लै उर लाए । जुवतिनि किए आपु मन भाए।[4]

7. सिर धुनना : अपनी भूल समझकर शोक और पछतावा करते समय लोग सिर धुनते देखे जाते है । कृष्ण से मार खाये कागासुर कंस से निवेदन करता है कि किसी बलवान ने अवतार धारण कर एक हाथ से मेरा गर्व-भंग किया है । तब कंस सिर धुनने लगता है—

सभा माँझ असुरनि के आगे, सिर धुनि-धुनि पछितान्यौ ।

* * *

दिनहीं दिन वह बढ़त जात है, मोकौ करि है घात ।

* * *

सेनापतिनि सुनाइ बात यह, नृप मन भयौ उदास ।[5]

[1] सा०, 682
[2] वही, 679
[3] वही, 672
[4] वही, 1009
[5] वही, 678

इस प्रकार, सिर धुनना व्यक्ति की उदास-स्थिति, पश्चात्ताप, निराशा और असहाय स्थिति का प्रतीक है।

8. ताम्बूल लेना : किसी कार्य का भार स्वीकार करते समय लोग ताम्बूल लेते हैं। अतएव ताम्बूल लेना कार्य के भार की स्वीकृति का निश्चयात्मक प्रतीक है। अंगद सीता का पता लगाने के लिए हनुमान को ताम्बूल लेने के लिए कहता है—

पवन-पुत्र बलवंत बज्र-तन, कापे हटक्यौ जाइ।
लियौ बुलाइ मुदित चित ह्वै कै, कह्यौ तंबोलहिं लेहु।[1]

उ) लीलावतारी नाम प्रतीक

सूरसागर में 21 अवतारों का वर्णन है। अतएव उसमें लीलावतारी के स्वरूप को व्यक्त करने वाले सैंकड़ों नाम प्रतीक आये हैं। यहां केवल कुछ लीलावतारी नाम प्रतीकों का विवेचन किया गया है।

1. अनाथ के स्वामी : जिनका कोई रक्षक न हो, उनकी रक्षा करने वाले ही अनाथ के नाथ हैं। ब्रह्म ने लीलारूप में अनेक भक्तों अथवा दीनों की रक्षा करके अपने इस स्वरूप को स्पष्ट किया है। सूरदास ने विविध उदाहरणों से उसी स्वरूप की ओर संकेत किया है—

ऐसे प्रभु अनाथ के स्वामी।

* * *

करत विवस्त्र द्रुपद-तनया कों, सरन सब्द कहि आयौ।
पूजि अनंत कोटि वसननि हरि, अरि कौ गर्व गंवायौ।
सुत-हित विप्र, कीर हित, गनिका, नाम लेत प्रभु पायौ।
छिनक भजन, संगति-प्रताप तें, गज अरु ग्राह छुड़ायौ।

* * *

निज जन दुखी जानि भय तें अति, रिपु हति, सुख उपजायौ।[2]

इस प्रकार 'अनाथ के स्वामी' लीलावतारी के अनाथों की रक्षा करनेवाले पक्ष का द्योतक प्रतीक है।

2. असुर संहारन : असुर संहारन वह है जो असुरों का संहार करता है। श्रीराम ने खरदूषण, रावण आदि असुरों का संहार किया। श्रीकृष्ण ने पूतना, कागासुर, शकटासुर, तृणावर्त, वकासुर, अघासुर, दावानल, प्रलंब, वृषभासुर, केशी,

[1] सा० 518
[2] वही, 190

व्योमासुर इत्यादि राक्षसों का वध किया। इसी कारण लीलावतारी 'असुर संहारन' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। सूर ने इसे कृष्णवाची के रूप में प्रयुक्त किया है–

जमलार्जुन तरु तोरि उधारन, कारन करन आपु मन माने।
असुर संहारन, भक्तनि तारन, पावन-पतित कहावत बाने ॥[1]

3. कृपा करन : कृपा जो करता है, वह कृपा करन है। सूर ने अनेक प्रसंगों में लीलावतारी के कृपा करनेवाले स्वभाव को बताया है। मत्स्यावतार में शंखासुर द्वारा चुराये गये वेदों को उससे छीनकर उन्हें ब्रह्मा को देकर उन पर कृपा प्रकट की।[2] कूर्मावतार में अमृत प्राप्त कराने में सहायता कर देवताओं पर अनुकंपा प्रकट की।[3] वराहावतार में हिरण्याक्ष को मारकर पाताल से पृथ्वी ले आये।[4] नृसिंहावतार धारण कर हिरण्यकश्यप को मारकर भक्त प्रह्लाद पर कृपा की।[5] वामनावतार में बलि का उद्धार किया[6] और अदिति का दुःख निवारण किया।[7] परशुराम अवतार धारण कर पृथ्वी को क्षत्रियों के आतंक से बचाया।[8] श्रीराम ने व्याध, अजामिल का उद्धार किया[9] तथा अहिल्या का शाप विमोचन किया।[10] श्रीकृष्ण ने पांडवों को विपत्तियों से बचाया।[11] अघ, बक, वृषभ, बकी, धेनुक आदि का उद्धार किया।[12] उग्रसेन को राज्य दिया।[13] कुबेर के पुत्रों को शाप से निवृत्त किया।[14] गोवर्द्धन गिरि को उठाकर गोकुल की रक्षा की।[15] बुद्ध ने यज्ञवाद तथा गुह्य सूत्रों में व्याप्त संस्कार वाद का विरोध और अहिंसात्मक प्रवृत्ति का प्रबोध किया।[16] इस प्रकार लीलावतारी ने सदा भक्तों पर कृपा प्रकट की है। इतनी

[1] सा०, 998
[2] वही, 443
[3] वही, 434
[4] वही, 392
[5] वही, 17
[6] वही, 441
[7] वही, 430
[8] वही, 458
[9] वही, 12
[10] वही, 26
[11] वही, 19
[12] वही, 27
[13] वही, 26
[14] वही, 26
[15] वही, 22
[16] वही, 688

व्यापक पृष्ठभूमि के कारण ही 'कृपा करन' लीलावतारी का नाम-प्रतीक मालूम पड़ता है। सूर ने लीलावतारी के इस स्वरूप की भी प्रशंसा की है—

भक्तबछल, कृपा करन, असरन-सरन, पतित उद्धरन कहै वेद गाई।[1]

4. गिरिधर : कृष्ण ने परंपरा से आनेवाली इंद्र-पूजा के स्थान पर गोवर्द्धन-पूजा का प्रारंभ किया। इससे इंद्र ने क्रोध में आकर व्रज को बहा देने की आज्ञा दी। तब कृष्ण ने एक हाथ पर गोवर्द्धन पहाड़ को उठाकर व्रज की रक्षा की। इससे कृष्ण का नाम 'गिरिधर, (पहाड़ को धारण करनेवाला) पड़ा। इस प्रकार 'गिरिधर' कृष्ण की गोवर्द्धन लीला का द्योतक प्रतीक है। अतः यह लीलावतारी कृष्ण का नाम प्रतीक है। सूर ने भी इसे कृष्ण का विरुद माना है—

व्रज जन राखि नंद कौ, लाला, गिरिधर विरुद धरै।[2]

5. गोकुलचंद : गोकुल चंद से तात्पर्य गोकुल का चंद्रमा है। चंद्रमा का एक नाम 'औषधीश' है, जिसके अनुसार वह रोग और शोक का नाश करनेवाला ठहरता है। चंद्रमा में अमृत का निवास भी है जो दुःख और कष्टों से मुक्ति दिलाता है। अतः चंद्रमा के साथ दुःख और कष्ट से मुक्ति दिलानेवाला, सुखद और आनंददायी भाव संबद्ध हो जाता है। 'गोकुल चंद' का तात्पर्य इस दृष्टि से गोकुल के कष्ट और आपत्तियों को दूर कर उन्हें सुखी करानेवाला हुआ, जो प्रसंगानुसार कृष्ण की व्यंजना कराता है। अतः यह लीलावतारी कृष्ण का नाम प्रतीक ठहरता है।

कृष्ण ने गोकुल अर्थात् गाय, गोप, गोपी सबकी आपत्तियों से रक्षा करते हुए उन्हें सुखी और आनंदित किया था। इस प्रकार गोकुल चंद्र का अर्थ उस सुखी करनेवाली लीला की प्रतीकात्मकता को स्पष्ट करता है। ऐसे गोकुल चंद कृष्ण हिंडोले में झूलते है—

हिंडोरनौ (माई) झूलत गोकुलचंद।[3]

6. गोपीनाथ : गोपीनाथ का अर्थ है गोपियों का पति। विशिष्ट अर्थ में यह कृष्णवाची है। कृष्ण ने अपनी बाल एवं माधुरी लीलाओं के द्वारा गोपियों को सुख एवं आनंद दिया था और गोपियों ने कृष्ण को अपने स्वामी रूप में देखा था। अतः वे गोपीनाथ कहे गये।

[1] सा०, 436
[2] वही, 37
[3] वही, 3452

कृष्ण के मथुरा चले जाने पर विरह में जलती हुई गोपियाँ उनके स्वामी-रूप में खरे न उतरने पर, (स्वामी का कार्य प्रिया या पत्नी के दुःख को दूर करना और उसकी रक्षा करना है, किंतु कृष्ण गोपियों के वियोग को दूर न करके संदेश भेजते हैं) उद्धव से उनके गोपीनाथ कहे जाने की आलोचना करती हैं–

काहे कौं गोपीनाथ कहावत ।[1]

7. मुरलीधर : कृष्ण की श्रृंगारी लीलाओं में वंशी का विशिष्ट स्थान है। गाय चराने, गोपियों को रिझाने एवं खिझाने तथा रासलीला के लिए गोपियों को एकत्र करने केलिए वंशी एक प्रमुख उपकरण है। अतः 'मुरलीधर' शब्द कृष्ण की उन्हीं लीलाओं की पृष्ठभूमि का वाची है। अतः नाम प्रतीक है। सूर ने कृष्ण की नामावली में इसे लिया है––

गिरिधर, व्रजधर, मुरलीधर, धरनीधर, माधौ पीतांबरधर ।[2]

8. रास नायक : कृष्ण के द्वारा की गई रासलीला में कृष्ण के अतिरिक्त गोपियाँ थीं। रास के नियम के अनुसार उसमें स्त्री और पुरुषों के समान जोड़े भाग लेते हैं। लेकिन इस लीला में एक मात्र पुरुष कृष्ण ही थे। अतः गोपियों की संख्या के अनुसार ही उन्होंने रूप धारण किये थे और इस कारण प्रत्येक गोपी को अपने पास ही कृष्ण के होने का अनुभव हुआ था। यह लीला पूर्णतः कृष्ण के प्रामुख्य को बताती है। इस प्रकार वे ही, इस लीला के नायक थे। अतएव रासनायक कृष्ण ही हैं। सूर ने रास नायक की महिमा गायी है–

सूर के प्रभु रास-नायक, करत सुख-दुख नास ।[3]

ऊ) भ्रमरगीत प्रसंग प्रतीक

'भ्रमरगीत' सूरसागर का एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग है। वियोग तथा उपालंभ काव्य की दृष्टि से यह विश्व-साहित्य की अद्वितीय वस्तु है। इसमें गोपियां भ्रमर के माध्यम से उद्धव के निर्गुण का खंडन और सगुण का मंडन करती हैं। अंत में उद्धव गोपियों की प्रेम-लक्षणा-भक्ति का महत्त्व स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार इस प्रसंग में मुख्य पात्र तीन हैं– (1) गोपियाँ, (2) भ्रमर और (3) उद्धव। गोपियों की प्रतीकात्मकता के संबंध में पीछे विस्तार से विचार किया गया है। अब भ्रमर तथा उद्धव की प्रतीकात्मकता के संबंध में यहाँ विचार किया जाएगा।

[1] सा०, 4266
[2] वही, 1190
[3] वही, 1680

भ्रमर : भ्रमर का कमलों से प्रेम लोकप्रसिद्ध है। किन्तु सूर्यास्त के समय कमल के संपुटों के लग जाने से मकरद का पान करनेवाला भ्रमर उसमें बन्दी होने पर भी, उसका छेदन करने का प्रयत्न नहीं करता और सूर्योदय तक उसी में पड़ा रहता है। इससे कमल के प्रति उसका प्रेम व्यक्त होता है।[1] किंतु वह भी एक ही कली से शाश्वत सम्बन्ध नहीं रखता और इधर-उधर रस-पान करते हुए घूमता रहता है। इसी कारण 'संस्कृत साहित्य में भ्रमर, पुरुष की रसलोलुप चंचलवृत्ति के प्रतीक[2] के रूप में स्वीकार किया गया है।

सूरसागर के भ्रमरगीत-प्रसंग में भ्रमर एक ओर इस चंचल स्वार्थवृत्ति का प्रतीक है तो दूसरी ओर उद्धव तथा कृष्ण का प्रतीक बन गया है। इसी कारण 'भ्रमरगीत प्रसंग' में कहीं-कहीं भ्रमर तथा उसके पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग उद्धव या कृष्ण के प्रतीक के रूप में हुआ है। नीचे सूरसागर के 4113-4513 (400) पदों के अनुशीलन के द्वारा यह बात स्पष्ट की गयी है—

क्र०सं०	भ्रमर के विभिन्न पर्यायवाची	आवृत्ति संख्या	प्रतीकों की संख्या	
			उद्धव	कृष्ण
1	अलि	56	33	2
2	भँवर	4	—	—
3	भौंरा	1	—	—
4	भ्रमर	2	1	—
5	मधुप	52	26	—
6	मधुमाखी	1	—	—
7	मधुकर	92	63	4
8	शिलीमुख	1	—	—
9	षट्पद	5	—	2

[1] जैसो बन्धन प्रेम कौ, तैसो बन्धन न और।
काठहि भेदै, कमल कौ छेद, न निकरै भौंर।। वृन्द

[2] हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा, डॉ० स्नेहलता श्रीवास्तव, पृ० 132

इस तालिका से स्पष्ट है कि सूर ने 'मधु' शब्द से आरम्भ होने वाले शब्दों का अधिक प्रयोग किया है जो भ्रमर की मधुलोलुप एवं स्वार्थ-वृत्ति की व्यंजना करने में समर्थ है।

भ्रमर तथा उद्धव दोनों काले हैं। जैसा ही उनका वर्ण काला है उनके हृदय और स्वभाव भी काले हैं। भ्रमर कमलों के प्रति निष्ठुर व्यवहार करता है। उद्धव गोपियों को निष्ठुर ज्ञानयोग का उपदेश देते हैं। एक स्थान पर गोपियाँ उद्धव के स्वभाव को स्पष्ट करती हैं—

मधुकर ये सुनि तन मन कारे।
कहूँ न सेत सिद्धताई तन परखे अंग तिहारे।
कीन्हौ कपट कुंभ बिच पूरन, पय मुख प्रगट उघारे।
बाहर देखि मनोहर दरसत, अन्तरगत जु ठगारे।।
अब तुम चले ज्ञान विष ब्रज दै, हरन जु प्रान हमारे।
ते क्यौं भले होहिं सूरज प्रभु, रूप बचन कृत कारे।।[1]

इस प्रकार उद्धव में भ्रमर के रूप तथा गुणों का आरोप किया गया है। यहाँ 'मधुकर' शब्द उद्धव का ही संकेत प्रतीक है।

भ्रमर कृष्ण का भी प्रतीक है। भ्रमर की भांति कृष्ण भी स्वार्थी प्रेमी हैं। वे गोपियों से प्रेम करते हैं और उनका यौवन लूटते हैं। किन्तु मथुरा जाते समय वे उसकी सूचना भी उन्हें नहीं देते और वहाँ से वापस लौटने का नाम ही नहीं लेते। गोपियाँ उद्धव से पूछती भी है—

मधुकर काके मीत भए।
द्यौस चारि करि प्रीति सगाई, रस लै उनत गये।[2]

यहाँ 'मधुकर' शब्द के द्वारा कृष्ण की स्वार्थ-वृत्ति की ओर संकेत किया गया है।

कृष्ण वर्ण से ही काले नहीं हैं, स्वभाव के भी काले हैं। गोपियाँ अपने अनुभव के आधार पर सभी काले रंगवालों, जो स्वभाव के भी काले हैं, को प्रेम के क्षेत्र में धोखा देनेवालों के रूप में चित्रित करती है—

मधुकर स्याम कहा हित जानै।
भँवर भुजंग काक कोकिल कौ, कविगन कपट बखानै।[3]

एक स्थान पर गोपियाँ भ्रमर तथा कृष्ण के साम्य को बताते हुए कहती है—

[1] सा०, 4380
[2] वही, 4126
[3] वही, 4369

भूलति हो कत मीठी बातनि।
ए तो अलि उनही के संगी, चंचल चित्त साँवरे गातनि।।
वै मुरली धुनि जग मन मोहत, इनकी गुंज सुमन मधु पातनि।
ए षट्पद, वै द्विपद चतुर्भुज, काहू भांति भेद नहिं भ्रातनि।
वे नव निसि मानिनि गृह वासी, एउ वसत निसी नव जलजाननि।
वे उठि प्रात अनत मन रंजत, ये उड़ि करत अनत रस रातनि।
स्वारथ निपुन सद्य रस भोगी, जनि पतियाहु विरह दुख दातनि।
वे माघौ ए मधुप सूर कहि, दुहूँ मैं नाहिन कोउ छुटि घातनि।।[1]

इस प्रकार भ्रमर को रस-लोभी, छली, कपटी, धोखा देने वाला, दुष्ट स्वभाव वाला आदि का प्रतीक बताते हुए कृष्ण और उद्धव से उसका साम्य स्पष्ट दिखाया गया है।

सूर ने भ्रमर को उस व्यंग्य माध्यम के रूप में चित्रित किया है जिसके द्वारा गोपियां निर्गुण का खंडन और सगुण का मंडन करती है—

मधुकर जौ तू हितू हमारौ।
तो प्यावहि हरि वदन सुधा रस, छाँड़ि जोग जल खारौ।

o o o

रे अलि चपल मोदरस लंपट, कतहिं वकत वेकाज।
सूर स्याम छवि क्यो विसरति है, नखसिख अंग विराज[2]

यहां मधुकर (या अलि) निर्गुण संप्रदाय का प्रतीक है जो ज्ञान तथा 'ब्रह्म' के स्वरूप को अज्ञान तथा अंधकार से आवृत करने का प्रयत्न करता है।

इस प्रकार भ्रमरगीत प्रसंग में भ्रमर एक ओर उद्धव तथा कृष्ण का प्रतीक है तो दूसरी ओर उस निर्गुण सप्रदाय का प्रतीक है जो ज्ञान तथा ब्रह्म को अज्ञान तथा अंधकार से आवृत करने की चेष्टा करता है।

उद्धव

उद्धव वड़े ज्ञानी हैं।[3] वे शुद्ध निराकारवादी योग-साधना में विश्वास करते है।[4] उन्हें अपने ज्ञान योग का अभिमान है।[5] उनका अभिमान यहां तक वढ जाता

[1] सा०, 4379
[2] वही, 4361
[3] ज्ञानी तुम सरि कौन। वही, 4052
[4] पूरन ब्रह्म अकल अविनासी, ताके तुम हो ज्ञाता।
रेख न रूप जाति कुल नाही जाके नहिं पितु माता।। वही' 4046
[5] जोग कौ अभिमान करि है - - - - -। वही 4041
[6] वही, 4044

है कि वे कृष्ण को भी उपदेश देने लगते हैं।[1] तब कृष्ण उन्हें ब्रज भेजना चाहते हैं[2] ताकि उद्धव वहाँ जाकर गोपियों का विरह-दुःख अनुभव करके प्रेम-लक्षणाभक्ति का महत्त्व समझ सकें और उनके योग-ज्ञान का अहं मिट जाय।

कृष्ण द्वारा संदेश-कार्य सौंपे जाने पर उद्धव अभिमान से फूल उठते हैं।[3] वे ब्रज जाकर गोपियों को योग-ज्ञान का संदेश देने लगते हैं[4]—पूर्ण ब्रह्म अविगत तथा अविनाशी है। समाधि लगाकर उसका ध्यान करो। तत्त्वज्ञान के बिना मुक्ति प्राप्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार सूरसागर में उद्धव अहंकारी ज्ञानी के प्रतीक मालूम पड़ते हैं।[5]

उद्धव के कूट पांडित्य का गोपियों पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। इसके विपरीत विरहकातरा ब्रज बालाओं के सरल प्रश्न, उत्तर तथा दशा उद्धव जैसे ज्ञानी को प्रेम-विभोर कर डालती हैं। मथुरा लौटते समय उद्धव गोपियों की प्रेम-दशा की जो प्रशंसा करते हैं, उससे यह बात मालूम होती है—

धाइ धाइ द्रुम भेटईं, ऊधौ छाके प्रेम ॥
धनि गोपी, धनि ग्वाल, धन्य ये सब ब्रजवासी।
धनि यह पावन भूमि, जहाँ बिलसे अबिनासी ॥
उपदेसन आयौ हुतौ मोहि भयौ उपदेस।
ऊधौ जदुपति चले किए गोप को भेष ॥[6]

मथुरा लौटकर उद्धव कृष्ण को गोपियों की विरह-दशा का अंत कर उन्हें सुख प्रदान करने की सलाह देते हैं—

तुम बिना सोभा नहीं प्रभु, ज्यौं दिवस बिनु भान।
आस सांस उसास घट मैं, अवधि आसा मान ॥
जगत जीवन, जगत-पालक, जगत-नाथ, कृपाल।
करि जतन कछु सूर के प्रभु, ज्यौ जियैं ब्रज बाल।[7]

इससे स्पष्ट है कि मथुरा लौटते तक ही उद्धव के हृदय का परिवर्तन हुआ।

1 वही, 4044
2 याहि और नहि कछू उपाइ।
मेरी प्रगट कह्यौ नहि बदिहैं, ब्रज हौ देउं पठाइ ॥ वही, 4039
3 ऊधौ मन अभिमान बढ़ायौ।
जदुपति जोग जानि जिय सांचौ, नैन अकास चढ़ायौ ॥ वही, 4047
4 ना०, 4122
5 हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा, डॉ० स्नेहलता श्रीवास्तव, पृ० 132
6 ना०, 4714
7 वही, 4719

था और उनके ज्ञान-योग का गर्व गल गया था। अतः ब्रज से मथुरा लौटे हुए उद्धव ज्ञानी-भक्त के प्रतीक हैं।

ए) दृष्टिकूट प्रतीक

1. दृष्टिकूट की परिभाषा : दृष्टिकूट परिभाषा के सम्बन्ध में ये मत हैं—

क) कोई कविता जिसका अर्थ केवल शब्दों के वाचकार्थ से न समझा जा सके बल्कि प्रसंग या रूढ़ अर्थों से समझा जाय।[1]

ख) श्लेष और यमक आदि अलंकार तथा अनेकार्थवाची कतिपय शब्दों के प्रयोग से ऐसी रचना जिसका समझना साधारण पाठक के लिए कठिन हो 'दृष्टिकूट' कहलाता है।[2]

ग) दृष्टिकूटों में यमक, श्लेष, रूपकातिशयोक्ति आदि अलंकारों के द्वारा प्रयोग से अर्थ समझने में कठिनाई होती है। इसके अतिरिक्त इनमें कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है जो साहित्य में विशेष अर्थों में रूढ़ हो गये हैं।[3]

घ) युक्ति से छिपाये हुए और क्लिष्ट कल्पना तथा मनोयोग द्वारा खुलनेवाले अर्थों से युक्त ये पद मानसिक एकाग्रता लाने के अभ्यास-रूप मानो गोरखधन्धे हैं।[4]

इन परिभाषाओं के आधार पर दृष्टिकूट के इन तत्त्वों का बोध होता है— 1) दृष्टिकूट का गूढ़ अर्थ होता है, जिसे समझना साधारण पाठक के लिए कठिन होता है। 2) दृष्टिकोण में गूढ़ता लाने के लिए यमक, श्लेष, रूपकातिशयोक्ति आदि अलंकारों या अनेकार्थवाची शब्दों का सहारा लिया जाता है। 3) अर्थ-बोध के लिए क्लिष्ट कल्पना और मनोयोग की आवश्यकता होती है।

उपर्युक्त तीन तत्त्वों में तीसरा अर्थबोध का एक साधन मात्र है। अतएव दृष्टिकूट के मुख्य तत्त्व दो रह जाते हैं—1) गूढ़ार्थता और 2) शब्द-कौशल।

2. दृष्टिकूट के प्रयोजन : दृष्टिकूट के मुख्य प्रयोजन ये हैं[5]—

अ) कुतूहल अथवा विस्मय उत्पन्न किया जाता है।

आ) काव्यकला में कौशल और विदग्धता का प्रदर्शन होता है।

इ) रहस्यात्मक अथवा दार्शनिक अनुभूतियों की अभिव्यंजना होती है।

[1] हिंदी विश्वकोश, भाग 1, पृ० 594

[2] ब्रज साहित्य का नायिका भेद, प्रभुदयाल मीतल, पृ० 100

[3] सूर सौरभ, मुंशीराम शर्मा, पृ० 20

[4] अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, डॉ० दीनदयाल गुप्त, पृ० 29

[5] कूटकाव्य : एक अध्ययन, डॉ० रामधन शर्मा, पृ० 17–18

ई) दूसरों से कुछ बातें गुप्त रखी जा सकती हैं।

उ) धार्मिक विचारों और क्रियाओं की गोपनीयता की रक्षा होती है।

3. दृष्टिकूट की परम्परा : कूटकाव्य की परम्परा बहुत प्राचीन है। ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा गया है कि "एक पाद तो द्विपाद से भी तीव्रगामी; द्विपाद भी है त्रिपाद से अग्रगामी। द्विपाद की पुकार पर है चतुष्पद आता। पांच का समूह जहां देखता वहां ही है।"[1] संभवत: 'एक पाद' का यहाँ अर्थ है 'वायु का देवता एक पैर वाला मेष' अथवा 'एक चक्रवाला सूर्य'। त्रिपाद का अर्थ है 'यष्टिकाधारी वृद्ध पुरुष' और 'चतुष्पाद' का अर्थ है 'कुत्ता'।

बृहदारण्यक उपनिषद् में विश्व और परब्रह्म का रूपकात्मक भाषा में वर्णन किया गया है—

ऊर्ध्वमूलो वाक् शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः
तदेव शुक्लं तद् ब्रह्म तदेवामृतमश्नुते ॥[2]

इसका भावार्थ यह है कि यह सनातन अश्वत्थ वृक्ष है जिसकी जड़ें ऊपर की ओर और शाखायें नीचे की हैं। वही शुक्ल है, वही ब्रह्म है और वही अमृत (अमरत्व) का उपभोग करता है।

इससे स्पष्ट है कि कूटशैली का प्रयोग और उसकी परंपरा वेद-काल से चली आ रही है। उसी परंपरा का पालन हिंदी साहित्य में भी हुआ है। संध्या भाषा के पद, नाथपंथियों की विपर्ययोक्तियाँ और संत कवियों की उलट-बाँसियाँ कूटकाव्य की ही एक रूप हैं। इनकी रचना रहस्यात्मक और दार्शनिक अनुभूतियों की अभिव्यंजना केलिए की गयी है। चंदवरदाई तथा विद्यापति के कूटपदों में उसका अधिक विकास हुआ है। सूरदास के कूटपदों में भी इसी परंपरा का निर्वाह हुआ है।

4. दृष्टिकूटों में प्रतीकों का प्रयोग : गूढ़ता दृष्टिकूट का मुख्य तत्त्व है। दर्शन तथा संप्रदाय में यह गूढ़ता और भी अधिक अभीष्ट होती है। यह गूढ़ता कवि सामान्य शब्दों के द्वारा नहीं ला पाता। ऐसे समय उसे प्रतीकों का सहारा लेना पड़ता है जिनके द्वारा वह कूटों में एक ओर अपने अभीप्सित गूढ़ार्थ को भी भर सकता है और दूसरी ओर ज्ञानी पाठकों या संप्रदाय के लोगों को अत्यंत सूक्ष्म और गहन तथ्यों को सरलता से अभिव्यक्त कर सकता है। इस प्रकार दृष्टिकूट में प्रतीकों के प्रयोग की आवश्यकता मालूम पड़ती है।

एक पाद् भूयो द्विपदो विचक्रमे द्विपात् त्रिपादमभ्येति पश्चात् चतुष्पादेति द्विदापमभिस्वरे सम्पश्यन् पक्तीरुपातिष्ठमानः ॥
ऋग्वेद, 10, 117-8

5. सूर के दृष्टिकूट प्रतीक : सूर काव्य का चरम कलात्मक विकास दृष्टिकूटों में दिखायी पड़ता है। यद्यपि उनके अर्थ-ग्रहण करने में प्राय: मानसिक तथा बौद्धिक व्यायाम करना पड़ता है, जिससे रागात्मक अनुभूति में विघ्न उपस्थित होते है; तथापि उनके अर्थ के स्पष्ट होने पर भाव-सौदर्य की पुष्टि होती है। गूढ़ार्थ, दार्शनिकता एवं सांप्रदायिक मान्यताओं की अभिव्यक्ति के उद्देश्य से सूरदास ने कूटपदों में प्रतीको का विशेष प्रयोग किया है। नीचे उनका वर्गीकरण करके उन पर विचार किया जा रहा है।

6. प्रतीकों का वर्गीकरण : सूर के कूट प्रतीकों को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं–अ) अनेकार्थवाची शब्द प्रतीक और आ) उपमान प्रतीक।

प्रतीक–विवेचन

अ) अनेकार्थवाची शब्द प्रतीक : इस प्रकार के प्रतीकों के अंतर्गत ऐसे शब्द आते है जो अपनी विशिष्ट व्यंजना के कारण एक या अनेक अर्थो में स्थिर होकर किसी भाव की व्यंजना समष्टि रूप से करते है। सूर के कूटों में ऐसे कुछ शब्द मिलते है। यथा–सारंग, कमल, हरि, धरि, दधि, हार।

सारंग प्रतीक

सूरदास को 'सारंग' शब्द अत्यंत प्रिय रहा है। उन्होंने इस एक शब्द को लेकर ही अनेक पदों की रचना की है। यथा–33, 1813, 2332, 2715, 2720, 2791, 3365, 3366, 3367।

सूर ने सारग शब्द को इन अर्थों में प्रयुक्त किया है—आकाश, हाथी, मेघ, सरोवर, जल, खट्वांग, स्वर्ग, धनुष, वस्त्र (साड़ी), केलि, चद्र, रात्रि, कृष्ण, राधा, सखी, नारी, दंपति, दीपक, भ्रमर, सूर्य, विष्णु, सर्प, कामदेव, स्वर्ण, हंस, केश, चक्रवाक, शख, शोभा, भूषण, खंजन, कोकिल, विद्युत्, बाण, वीणा, एक राग, पर्वत, कुरग, सिह, नदी, अमृत, समुद्र, दिन-रात, पद्मिनी नायिका।

सूर ने इस शब्द के द्वारा कुछ यौगिक शब्दो की भी रचना की है। जैसे–सारंग पति, सारग धर (कृष्ण), सारंगरिपु (सूर्य, वस्त्र, घूँघट, गरुड़), सारंग-सुत (चंद्र, काजल, कमल, भौरे का बच्चा, हरिण का शावक), सारंग-सुता (काजल), सारंग गति (सर्प की सी गति वाला अर्थात् कुतल अथवा शीघ्र कुपित होनेवाला)।

अब सूरदास के कुछ दृष्टिकूटों का विवेचन किया जाएगा जिनमें 'सारंग' का शब्द-प्रतीक के रूप मे प्रयोग किया गया है।

उदाहरण (1) पौराणिक प्रसंग

हरै बलवीर बिना को पीर ?

सारंगपति प्रगटे सारंग तें, जानि दीन पर भीर
सारंग विकल भयौ सारंग तें, सारंग तुल्य सरीर।
पर्‌यौ काल सारंग-वासी तें, राखि लियौ बलबीर।
सारंग इक सारंग ह्‌वै लौट्‌यौ, सारंग ही कैं तीर।
सारंग-पानि राय ता ऊपर, गए परीच्छत कीर।
गहैं दुष्ट द्रुपदी कौ सारंग, नैननि बरसत नीर।
सूरदास प्रभु अधिक कृपा तें, सारंग भयौ गंभीर।[1]

सूरदास जी कहते हैं कि भगवान् कृष्ण के बिना कौन पीड़ा हर सकता है ? अपने भक्तों पर विपत्ति पड़ने पर भगवान् (सारंग पति) स्वयं ही आकाश (सारंग) से प्रकट हो जाते हैं। (एक समय) मेघ तुल्य (सारंग) शरीरवाला हाथी (सारंग) का सरोवर (सारंग) में ग्राह (सारंगवासी) से युद्ध हुआ, तब कृष्ण ने उसकी रक्षा की। राजा खट्वांग (सारंग) स्वर्ग (सारंग) से सरोवर (सारंग) के किनारे वापिस आये। धनुषधारी राजा परीक्षित शुकदेव जी की शरण में गये। जब दुष्ट दुश्शासन द्रौपदी के वस्त्र (सारंग) को पकड़कर खींचने लगा तो द्रौपदी के नेत्रों से आंसू बहने लगे। तब कृष्ण के अनुग्रह से उसका चीर (सारंग) अक्षय हो गया।

यहाँ कवि ने सारंग के विभिन्न अर्थो—आकाश, हाथी, सरोवर, मेघ, खट्वांग, स्वर्ग, वस्त्र, कृष्ण—के द्वारा भगवान् के भक्तवत्सल स्वभाव को व्यंजित किया है। इस व्यंजना केलिए सूर ने पौराणिक आख्यानों का सहारा लिया है। पौराणिक पृष्ठभूमि के कारण 'सारंग' शब्द भी पौराणिक अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ कहा जा सकता है। इस प्रकार के संदर्भो में (जहाँ शब्द विशेष पौराणिक कथा से संबद्ध हो) 'सारंग' के अर्थ समझने में कम ही कठिनाई होती है, अपेक्षाकृत उन संदर्भो के जहाँ उसके प्रयोग के पीछे कोई पौराणिक आधार नहीं होता। सूरदास के वे पद जिनमें प्रेम अथवा भक्ति आदि का वर्णन 'सारंग' शब्द के प्रयोग द्वारा किया गया है, ऐसे स्थल सारंग की केवल शब्दात्मक प्रतीकात्मकता एवं उसकी विभिन्न संदर्भो में विभिन्न अर्थवत्ता को ही व्यंजित करते हैं।

उदाहरण (2) : राधा-रूप-वर्णन

पद्‌मिनि सारंग एक मझारि।
आपुहि सारंग नाम कहावै सारंग बरनी बारि॥
तामैं एक छबीलौ सारंग अधसारंग उनहारि।
अध सारंग पर सकलइ सारंग अध सारंग बिचारि॥

[1] सा०, 33

तामैं सारंगसुत सोभित है ठाढ़ी सारंग भारि।
सूरदास प्रभु तुमहू सारंग बनी छवीली नारि।।[1]

राधा की सखी कृष्ण से कहती है—राधा पद्मिनी नायिका है। वह सारंग (सुन्दरी) नाम से प्रसिद्ध है और उसके केश सारंग (भ्रमर) जैसे है। उन केशों के बीच एक सुन्दर सारंग (चन्द्रमुख) है जो आधे सारंग (चन्द्र) जैसा है। इस आधे चन्द्र (मुख) ने पूरे चन्द्र (वास्तविक चन्द्र) की शोभा छीन ली है जिससे पूरा चन्द्र उसका आधा प्रतीत होता है। उस अर्ध (चन्द्र) में दो मृगशावक (नेत्र) शोभित है। इस प्रकार उसमें अद्भुत रूप है। हे प्रभु ! आप भी सुन्दर है और राधा भी छवीली है।

यहाँ 'सारंग' शब्द बादल, रमणी, भ्रमर, मुख, चन्द्र, मृग और सौन्दर्यप्रिय के अर्थों में प्रयुक्त है। सारंग-सुत का अर्थ है मृग-शावक। सारंग-मझारि का प्रयोग राधा के अर्थ में हुआ है।

इस प्रकार सूर ने यहाँ 'सारंग' के विभिन्न अर्थों द्वारा राधा के रूप का प्रभावोत्पादक वर्णन प्रस्तुत किया है। अतएव यहाँ 'सारंग' राधा के रूप-सौन्दर्य का समग्र प्रतीक है।

'हरि' प्रतीक

सूर ने हरि शब्द का इन अर्थों में प्रयोग किया है—श्रीकृष्ण, सिंह सूर्य, बन्दर, इन्द्र, मोर मेघ, हरण करना, पवन, हाथी, कामदेव। उन्होंने 'हरि' शब्द को लेकर कुछ यौगिक शब्द भी बनाए हैं। यथा—हरि-तनया (यमुना) हरि कौ तात (पवन), हरि दवन (योग), हरि-वाहन (वृक्ष), हरि-भष (मास), हरि-रिपु (क्रोध, मान), हरि-पुत (गजमुक्ता, कामदेव)। नीचे एक उदाहरण दिया जा रहा है जिसमें सूर ने 'हरि' प्रतीक का प्रयोग किया है—

हरि मोकौं हरि भख कहि जु गयौ।
हरि दरसत हरि मुदित उदित हरि, हरि ब्रज हरि जु लयौ
हरि रिपु ता रिपू ता पति कौ सुत, हरि बिनु प्रजरि दहै।
हरि कौ तात परस उर अंतर, हरि बिनु अधिक बहै।
हरि तनया सुधि तहाँ बदति हरि, -हरि अभिमान न ठायौ।
अब हरि दवन दिवा कुबिजा कौ, सूरदास मन भायौ।[2]

नायिका सखी से कहती है—श्रीकृष्ण (हरि) एक महीने (हरि-भख) मे

[1] सा०, 2729
[2] वही, 4008

लौटने को कह गए थे (किंतु अभी तक नहीं आये)। अब ब्रज पर बादल (हरि) गरज रहे हैं, मोर (हरि) बोल रहे हैं और इन्द्र (हरि) भी प्रसन्न हैं, क्योंकि ब्रज का सूर्य (हरि) अब हरण हो गया है। अर्थात् कृष्ण अब ब्रज में नहीं हैं। स्याम (हरि) के बिना कामदेव (हरि रिपु ता रिपु ता पति को सुत) हमको जला रहा है और पवन (हरि को तात) भी हमारे अंतःस्थल को छूकर अधिक वेग से बह रहा है, हे सखी! क्या तुम्हें यमुना (हरि-तनया) के किनारे की याद है, जहाँ कोयल (हरि) बोलती थी (अर्थात् यमुना किनारे के एकांत उपवन में जहाँ कोयल बोलती थी और हमारा सहेट था) वहाँ तो उन्होंने (हरि ने) हमसे कभी अभिमान नहीं किया। लेकिन अब वही कृष्ण कुब्जा को भोग देकर और हमें कामदेव को दबाने वाले भोग अर्थात् योग (हरि वचन) भेज रहे हैं (अर्थात् हमसे अभिमान कर रहे हैं।)

दधि, धर और हार का मिलित प्रतीक

सूर ने दधि, धर और हार शब्दों को विभिन्न अर्थों में प्रयोग कर नायिका का मान-वर्णन किया है—

> दधि सुत बदनी दधिहिं निवारी।
> दधिसुत दृष्टि मेलि दधिसुत में दधिसुत पति सों क्यों न विचारी।
> धरहिं छांड़ि कै धरहिं पकरि लै, धरहु लता घनस्याम संवारी।
> हार पहिरि कर, हार पकरि करि हार गोवर्धन नाथ निहारी।
> समुझि चली वृषभानु नन्दिनी, आलिंगन गोपाल पियारी।
> विद्यमान कलहंस जात गति, सूरदास अपनौ तन वारौ।[1]

सखी नायिका से कहती है—हे चन्द्रमुखी (दधि सुत बदनी)! तू अपने क्रोध (दधि) को त्यागकर, तेरी यह क्रोधयुक्त दृष्टि जालंधर राक्षस (दधिसुत) सी प्रतीत होती है। उसे तू अपने चन्द्रमुख में सम्मिलित कर ले और इस प्रकार अपने क्रोध को कृष्ण (दधि-सुत-पति) के प्रति न्यून करो। पृथ्वी में (धरहिं) छोड़कर अपनी टेक (धरहिं) को पकड़कर (कि मुझे क्रोध नहीं करना)। वल्कल धारण कर (धरहु)। काले बालों (घनस्याम) को संवार लो। हार धारण कर लो, कृष्ण से खेतों (कुंजों में) जाकर मिलो, चाहे इसमें तुम्हारी हार ही हो। राधा यह बात समझकर प्यारे गोपाल से मिलने चल दी। उसे हंस गति से गली में जाती हुई देखकर सूरदास अपना तन-मन न्योछावर करते हैं।

[1] सा०, 3364

उपमानगत प्रतीक : उपमान जब अविक रूढ़ होकर उपमेयों की व्यंजना लाक्षणिकता से कर देते है तव वे प्रतीक वन जाते हैं। सूर ने अपने दृष्टिकूटों में एसे उपमानगत प्रतीकों का विशेप प्रयोग किया है।

उदाहरण (1): सूर सागर मे दानलीला के प्रसग मे कृष्ण उपमानगत प्रतीको द्वारा गोपियों के अंगो का दान मांगते है—

लैहौ दान सव अंगनि कौ।
अति मद गलित ताल-फल त गुरु, इन जुग उरज उतंगनि कौ।
खंजन, कंज, मीन मृग-सावक, सावक, भँवरज वर भुव भंगनि कौ।
कुन्दकली, वंवूक, विव-फल, वर नाटक तरंगनि कौ।
सूरदास-प्रभु हंसि वस कीन्हौ, नायक कोटि अनंगनि कौ।[1]

मैं तुम्हारे सव अंगों का दान लूंगा। मद-भरे और ताल-फल से वड़े उरोजों का; खंजन, कंज, मीन मृगशावक भ्रमर (आर्थात् नेत्रों) का, कुँदकली (अर्थात् दांतों) का, वंवूक और विवफल (अर्थात् अवरों) का, ताटंक की तरंगों का (अर्थात् कपोलों का जिनपर ताटक विद्यमान है), कोकिल (मधुरवाणी), शुक (नासिका), कपोत (ग्रीवा), विसलता (कोमल अग-यष्टि), हंस (ठोढी) और फनिगण (कवरी) का। सूर कहते है कि इस प्रकार मुस्कुराकर वोलते हुए कृष्ण ने अपनी शारीरिक सुपमा से करोड़ों कामदेवों को वश मे कर लिया।

उदाहरण (2): सूर ने रूपकातिशयोक्ति अलकार की सहायता से राधा के अंगों का वर्णन किया है—

अद्‌भुत एक अनूपम वाग।
जुगल कमल पर गज वर क्रीड़त, तापर सिंह करत अनुराग।
हरिपर सरवर, सर पर गिरि वर, गिरि पर भूले कंज पराग।
रुचिर कपोत वसत ता ऊपर, ता ऊपर अमृत फल लाग॥
फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, ता पर मुक, पिक, मृगमद काग।
खंजन, धनुष, चद्रमा ऊपर, ता ऊपर इक मनिधर नाग।
अंग-अंग प्रति और और छवि, उपमा ताकौ करत न त्याग।
सूरदास प्रभु कियौ सुधारस, मानौ अधरनि के वड़ भाग।[1]

राधा का शरीर एक अद्‌भुत अनुपम वाग है। उसमें दो कमलो (चरणों) पर हाथी (जंघा) क्रीडा करते है। उन पर सिंह (कटि) अनुराग करता है। सिंह पर सरोवर

[1] सा०, 2083
[2] वही, 2728

(नाभि) है और सरोवर पर गिरिवर (उरोज) हैं और उन पर अमृत फल (अधर) लगा है। फल पर पुष्प (ठोड़ी), पुप्प पर पत्ता (ऊपरी ओष्ठ) और उस पर शुक (नासिका), पिक (वाणी) और कस्तूरी टीका (माथे पर कस्तूरी का चिह्न) विद्यमान हैं। उन पर खंजन (नेत्र), धनुप (भौंहे) और चंद्र (मुख) हैं। उनके ऊपर एक मणिधर सर्प (शीशफूल सहित कवरी) है। इस प्रकार सभी अंगों की शोभा अद्भुत है। सूर कहते हैं कि राधा की सखी कृष्ण को राधा का अधरामृत पानकर अपने अधरों को कृतकृत्य करने की प्रेरणा देती है।

यहां चरण, जंघा, कटि, नाभि, कुच, कुचाग्र, ग्रीवा, चिवुक, अधर, ओष्ठ, नासिका, वाणी, कस्तूरी टीका, नेत्र, भौंहे, मुख और शीशफूल सहित कवरी—इन सब अंगों तथा वस्तुओं को क्रमशः कमल, गज, सिंह, सरोवर, गिरिवर, कंज पराग, कपोत, पुहुप, अमृतफल, पल्लव, शुक, पिक, मृगमद, खंजन, धनुष, चंद्रमा तथा मणिधर नाग के उपमानों के द्वारा व्यंजित किया गया है। इस प्रकार इसमें सूर ने प्रतीकों की एक शृंखला बांधकर राधा के अंगों की समष्टि-सुन्दरता व्यंजित की है।

उदाहरण (3) : सूर ने एक दृष्टिकूट में उपमानगत प्रतीकों की सहायता से कृष्ण के दधि-भक्षण का वर्णन किया है—

> देखौ माई दधिसुत मैं दधि जात।
> एक अचंभौ देखि सखी री, रिपु मैं रिपु जु समात।
> दधि पर कीर, कीर पर पंकज, पंकज के द्वै पात।
> यह सोभा देखत जसु पालक, फुले अंग न समात।
> बारंबार बिलोकि सोचि चित, चंद महर मुसुक्यात।
> यहै ध्यान मनि आनि श्याम कौ, सूरदास बलि जात।[1]

एक सखी दूसरी सखी से कह रही है—हे सखि! देखो, चंद्रमा में दही जा रहा है। एक आश्चर्य देखो, शत्रु में शत्रु समा रहा है। दही पर शुक है, शुक पर कमल है। कमल पर दो पत्ते हैं। इस शोभा को देखकर गोप-नंद के अंग फूले नहीं समाते। उसे देखकर वह मुस्कुरा रहा है। सूर कहते है कि जो भी इस रूप का ध्यान करता है उस पर मैं वलिहारी हूँ। यहां चंद्र मुख का उपमान है। शुक नासिका का और कमल दल नेत्रों का। 'रिपु में रिपु जु समात' के द्वारा यह भाव व्यंजित किया गया है कि कृष्ण अपना हाथ मुख में डालकर क्रीड़ा कर रहे हैं क्योंकि मुख चंद्र है और हाथ कमल है और चंद्रोदय पर कमल का मुरझाना दोनों की शत्रुता व्यक्त करता है। इसलिए हस्तकमल का अपने वैरी मुख-चंद्र में प्रवेश एक अद्भुत घटना है। इस असंभव कार्य को सूर ने दधि-सुत और दधि-जात शब्दों के चयन द्वारा किया है। ये शब्द एक ओर कमल और चन्द्रमा का अर्थ देकर उपमान प्रतीक वन जाते है और दूसरी ओर असंभव और आश्चर्य की सृष्टि भी करते हैं।

9 उपसंहार

पिछले छः अध्यायों में सूरसागर के अवतार-प्रतीक, लीला-प्रतीक, लीला-परिकर-प्रतीक, सांस्कृतिक-प्रतीक, दार्शनिक-प्रतीक और काव्य-प्रतीकों का विवेचन हुआ है। इन सभी के अंतर्गत जिन पात्रों, वस्तुओं और नामों आदि को प्रतीकात्मकता के लिए स्वीकार किया गया है, उनकी संख्या लगभग 300 है। लेकिन प्रतीकेयों की संख्या इससे कई गुना अधिक है, क्योंकि विभिन्न (सांस्कृतिक, दार्शनिक, आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक, पौराणिक आदि) दृष्टियों से व्याख्या की जाने पर एक वस्तु अथवा क्रिया से अनेक प्रतीकेय बनते हैं। साथ ही कृष्ण की एक-एक लीला में अनेक प्रतीकेय हैं। उदाहरण केलिए कालिय-दमन-लीला में ही लीला के 8, कालिय के 8, यमुना के 8, कृष्ण के 8 कुल 64 प्रतीकेय मिलते हैं। इसी प्रकार कृष्ण की अन्य लीलाओं की प्रतीकात्मकता का महत्त्व समझा जा सकता है। सूर से पूर्व सिद्ध-नाथ और संतों के काव्य में दार्शनिक और आध्यात्मिक प्रतीकों की तथा आधुनिक काव्य में भाव, शैली एवं शिल्पगत प्रतीकों की विस्तृत योजना मिलती है। तुलनात्मक दृष्टि से सूर की प्रतीक-योजना संत-काव्य और आधुनिक काव्य की प्रतीक-योजना से किसी प्रकार कम नहीं है। इस तत्त्व से ही सूरसागर की प्रतीक-योजना के महत्त्व का पता चलता है।

सूर के प्रतीकों का क्षेत्र भी विस्तृत और व्यापक है। सूरसागर में पौराणिक, धार्मिक, दार्शनिक, साम्प्रदायिक, सांस्कृतिक और काव्य-सम्बन्धी सभी प्रकार के प्रतीक मिलते हैं। एक-एक कोटि के अंतर्गत अनेक प्रतीकाश्रय और एक-एक आश्रय के अनेकानेक प्रतीक हैं। पौराणिक प्रतीकों के अन्तर्गत ही सूर ने विष्णु के 21 अवतारों की योजना की है। इसी प्रकार धार्मिक, दार्शनिक और साँप्रदायिक प्रतीकों में परंपरागत तथा नवीन प्रतीकों की योजना और उद्भावना हुई है। काव्यगत

प्रतीकों के क्षेत्र में सूर को कवि रूप में अपनी प्रतिभा दिखाने का अवसर मिला है और यह क्षेत्र भी अन्य प्रतीक क्षेत्रों से कम प्रभावशाली नहीं है।

प्रस्तुत अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सूरसागर के परंपरागत अथवा पौराणिक प्रतीकों में परंपरा तथा पौराणिकता का निर्वाह तो हुआ ही है; साथ ही इनमें नवीन अर्थों का समावेश भी हुआ है। सूरसागर में ऐसे प्रतीकों को व्याप्ति मिली। सूरदास के कृष्ण जहाँ एक ओर वैदिककालीन इंद्र और सूर्य के तत्त्वों को ग्रहण कर विष्णु से एकाकार होते हुए दिखायी देते हैं, वहीं दूसरी ओर वे कुछ लौकिक तत्त्वों एवं सम्प्रदाय के सिद्धान्तों से संयुक्त भी हैं। इस प्रकार सूर के कृष्ण में जहाँ परंपरागत कृष्ण का स्वरूप है, वहीं उनमें माधुर्य भावना का आरोप भी है। अतः कृष्ण के प्रतीक में एक ओर अलौकिकता से संक्रमण लौकिकता के रूप में है तो दूसरी ओर लौकिकता से संक्रमण अलौकिकता में भी है। यही स्थिति राधा के संदर्भ में भी दिखायी देती है। उसमें पुराणों का परम दैवी रूप तथा लौकिक-परंपरा का माधुर्य-तत्त्व दोनों का सुन्दर समन्वय है।

परंपरा के साथ नवीनता के समावेश की प्रवृत्ति सूर के शब्द-प्रतीक, लीला-प्रतीक, दार्शनिक प्रतीक और काव्य-प्रतीकों में भी दिखायी देती है। निरंजन, सहज, सुरति, मुद्रा, योगिनी आदि शब्द जो सिद्धों और नाथों में प्रतीकात्मकता ग्रहण कर चुके थे, उन्हें सूर ने उसी रूप के साथ बदले हुए रूप में भी ग्रहण किया है। कृष्ण, राधा, सीता, राम आदि के ऐतिहासिक और पौराणिक पात्र-प्रतीकों में युग-प्रवृत्ति के अनुरूप परंपरा के साथ नव अर्थ-तत्त्वों का समाहार भी किया है। कृष्ण-लीलाओं के वर्णन में ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों का समन्वय तो है ही, कवि की अपनी अनुभूति तथा अन्तर्दृष्टि का समावेश भी है। शिवत्वपरक लीलाओं में सूर को तात्त्विक अर्थ के साथ सामाजिक तत्त्व भी ग्राह्य रहा है। इस प्रकार सूर ने परंपरागत प्रतीकों को परंपरा के साथ-साथ युग-बोध के संदर्भ में भी ग्रहण किया है।

सूरसागर के जिन प्रतीकों का प्रस्तुत प्रबन्ध में अध्ययन किया गया है, उनकी प्रतीकात्मकता के सम्बन्ध में किसी भ्रम या विवाद का प्रश्न नहीं उठता। कारण यह है कि सूरदास के पूर्व भी इन प्रतीकाश्रयों की प्रतीकात्मकता स्वीकृत हो चुकी थी और सूरदास को परंपरा से प्राप्त हुई थी। साथ ही सूरदास ने प्रायः सभी स्थानों पर उनकी प्रतीकात्मकता की ओर संकेत भी किया है। यह बात लीलाओं के संदर्भ में बिलकुल स्पष्ट है। हर लीला करने से पूर्व कृष्ण द्वारा लीला करने का निश्चय करना और उसके रूप की योजना बना लेने का सूर ने वर्णन किया है। हाँ, कुछ

अन्य प्रसंगों में प्रतीकात्मकता के प्रति किये गये संकेत बहुत ही सूक्ष्म है और संभवतः शब्द-प्रतीकों के संदर्भ में तो संकेत है ही नही। वहां केवल परंपरा ही हमारा मार्ग-दर्शन करती है। अतः सूर के प्रतीक-निर्धारण के संदर्भ में यह नही कहा जा सकता कि उन्हें सूरदास ने प्रतीक रूपो मे प्रयुक्त नही किया है और उन पर प्रतीकात्मकता का आरोप ही किया गया है। जो शब्द, नाम, लीलाएँ आदि प्रतीकात्मकता केलिए ग्रहण की गयी है, वे सूर साहित्य की पृष्ठभूमि तथा परपरा के ज्ञान के प्रकाश में सूरसागर के अध्ययन के स्वाभाविक परिणाम है।

उपयोगिता एवं उद्देश्य की दृष्टि से भी सूरसागर के प्रतीक महत्त्वपूर्ण है। सूरदास सूरसागर की रचना श्रीमद्भागवत के आधार पर संप्रदाय के सिद्धान्तों की दृष्टि से कर रहे थे। अतः उसमे धर्म, पुराण के साथ दर्शन का समावेश आवश्यक था। प्रतीको का प्रयोग इन आवश्कताओं की पूर्ति मे सहायक हो सकता था। इसीलिए सूरदास ने अपने प्रतीकों द्वारा अपने उद्देश्य की पूर्ति भी की है। उन्होंने प्रतीकों मे पौराणिकता और दार्शनिकता का समन्वय किया है और पौराणिक कथाओं के द्वारा विभिन्न प्रतीकार्थों की व्यजना भी की हे। उनके प्रतीक भक्तिपरक जीवन-दर्शन केलिए माध्यम है और उन्ही के द्वारा धर्म और पुराण के एक स्वस्थ दार्शनिक स्वरूप की व्याख्या भी हुई है। काव्य के क्षेत्र में सूर के दृष्टिकूट-प्रतीक कला की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है और इस क्षेत्र में अन्य कोई कवि उनकी ऊँचाई को स्पर्श नही कर सका है।

परिशिष्ट

सहायक-ग्रन्थ-सूची

हिन्दी

1. अवतार, श्री अरविंद, अदिति कार्यालय, पांडिचेरी-2, प्रथम संस्करण, 1965
2. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, भाग-1, 2; डॉ० दीनदयाल गुप्त, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
3. अष्टछाप काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन, डॉ० माया रानी टंडन, हिन्दी साहित्य भंडार, गंगा प्रसाद रोड, लखनऊ, 1960
4. आधुनिक हिन्दी काव्य में प्रतीकवाद, डॉ० चंद्रकला, मंगल प्रकाशन, गोविंद राजियों का रास्ता, जयपुर
5. कबीर ग्रंथावली, सं: डॉ० श्यामसुन्दर दास, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, 1928
6. कबीर साहित्य की परख, परशुराम चतुर्वेदी, भारती भंडार, प्रयाग, सं० 2011
7. कवि समय मीमांसा, विष्णु स्वरूप, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी–5
8. गोरखबानी, सं : डॉ० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, इलाहाबाद, सं० 2003
9. गोरक्ष सिद्धांत संग्रह, सं : गोपीनाथ कविराज, बनारस, 1925
10. चर्यापद, सं : मणींद्र मोहन बसु, कलकत्ता–1
11. दोहा कोष, डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची, कलकत्ता, 1935
12. नंददास ग्रंथावली, सं : ब्रजरत्नदास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, दूसरा संस्करण, सं : 2014
13. प्रतीकवाद-मनोवैज्ञानिक अध्ययन, डॉ० पद्मा अग्रवाल, मनोविज्ञान प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1963
14. प्रतीक-शास्त्र, श्री परिपूर्णानंद वर्मा, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनऊ, प्रथम संस्करण, 1964
15. ब्रज का सांस्कृतिक विकास, प्रभुदयाल मीतल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली–6, प्रथम संस्करण, 1966

16. ब्रज साहित्य का नायिका भेद, प्रभु दयाल मीतल
17. भारतीय प्रतीक-विद्या, डॉ० जनार्दन मिश्र, विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1959
18. भारतीय संस्कृति, शिवदत्त ज्ञानी
19. भारतीय साधना और सूर साहित्य, डॉ० मुंशीराम शर्मा, आचार्य शुक्ल साधना सदन, 19/44, पटकापुर, कानपुर
20. मध्यकालीन साहित्य मे अवतारवाद, डॉ० कपिलदेव पाडेय, चौखम्वा विद्याभवन, वाराणसी–1, 1963
21. मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्त्विक अध्ययन, डॉ० सत्येन्द्र, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा
22. महाकवि सूरदास, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, आत्माराम एंड सन्स, काश्मीरी गेट, दिल्ली–6, दूसरा सस्करण, 1958
23. राजर्षि अभिनंदन ग्रथ, दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन 40, कम्यूनिकेशन विल्डिग, नई दिल्ली, 1960
24. वय रक्षाम:, आचार्य चतुरसेन शास्त्री, शारदा प्रकाशन, भागलपुर–1, प्रथम भाग–1955, द्वितीय भाग–1960
25. वैदिक देवशास्त्र, पं० राम गोविंद त्रिवेदी, भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुड रोड, काशी, प्रथम संस्करण, 1950
26. सिद्ध साहित्य, डॉ० धर्मवीर भारती, किताबमहल प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम सस्करण, 1955
27. सूर और उनका साहित्य, डॉ० हरवशलाल शर्मा, भारत प्रकाशन मदिर, अलीगढ, सशोधित सस्करण, सं० 2015
28. सूर की काव्य-कला, मनमोहन गौतम, भारतीय साहित्य मदिर, फव्वारा, दिल्ली
29. सूर की झाँकी, डॉ० सत्येन्द्र, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी लिमिटेड, आगरा, प्रथम सस्करण, 1956
30. सूर की भाषा, डॉ० प्रेमनारायण टडन, हिन्दी साहित्य भडार, गगाप्रसाद रोड, लखनऊ, 1957
31. सूरदास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, सरस्वती मदिर, जतनबर, वाराणसी, पचम परिवर्द्धित सस्करण, 1961
32, सूरदास (जीवन और काव्य का अध्ययन), डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, हिन्दी परिषद्, प्रयाग, तृतीय सस्करण, 1959

33. सूरदास और भगवद्भक्ति, डॉ० मुंशीराम शर्मा, साहित्य भवन (प्राइवेट लिमिटेड), इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1958
34. सूरदास का काव्य-वैभव, डॉ० मुंशीराम शर्मा, ग्रंथम प्रकाशन, रामबाग, कानपुर, 1955
35. सूरदास की वार्ता (गोस्वामी हरिराय कृत), सं: प्रभुदयाल मीतल, अग्रवाल प्रेस, प्रथम संस्करण, 2008
36. सूरदास के (कूटपदों के विशिष्ट संदर्भ में) कूट-काव्य का अध्ययन, डॉ० रामधन शर्मा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1963
37. सूर के सौरूद, चुन्नीलाल शेष, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी-1, तृतीय संस्करण, सं० 2023
38. सूर निर्णय, श्री द्वारिकादास परीख और प्रभुदयाल मीतल, साहित्य संस्थान, मथुरा, तृतीय संस्करण, 1962
39. सूरसागर, सं : नंददुलारे वाजपेयी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प्रथम खंड—सं० 2021, द्वितीय खंड—सं० 2018
40. सूर साहित्य, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी-ग्रंथ-रत्नाकर (प्राइवेट) लिमिटेड, बंबई-4, 1961
41. सूर साहित्य : नव मूल्यांकन, डॉ० चंद्रभान रावत, जवाहर पुस्तकालय, असकुडा बाजार, मथुरा, प्रथम संस्करण, 1967
42. सूर सौरभ, डॉ० मुंशीराम शर्मा, सं० 2002
43. स्वामी दादू दयाल की बानी, सं: सुधाकर द्विवेदी, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, 1906
44. श्री राधा का क्रम-विकास (दर्शन और साहित्य), डॉ० शशि भूषण दास गुप्त, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी—1, प्रथम संस्करण, 1956
45. श्री रामचरित मानस, गीता प्रेस, गोरखपुर, बारहवाँ संस्करण, सं० 2018
46. हमारे कुछ प्राचीन लोकोत्सव, मन्मथराय, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1953
47. हिन्दी के काव्य-रूप, डॉ० रामबाबू शर्मा; श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय तिरुपति (आन्ध्र प्रदेश)
48. हिन्दी काव्य में प्रतीकवाद का विकास (1600–1940), डॉ०

वीरेंद्र सिंह, हिन्दी साहित्य प्रकाशन, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग, 1964
49. हिन्दी में भ्रमरगीतकाव्य और उसकी परम्परा, डॉ० स्नेहलता श्रीवास्तव, भारत प्रकाशन मदिर, अलीगढ़,
50. हिन्दी साहित्य, भाग-2, सं: धीरेंद्र वर्मा, ब्रजेश्वर वर्मा, भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग, 1956
51. हिन्दी साहित्य : उसका उद्भव और विकास, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, दिल्ली, 1952
52. हिन्दी साहित्य कोश, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, ज्ञानमंडल लिमिटेड, बनारस, प्रथम संस्करण, सं० 2015
53. हिन्दी विश्वकोश, 25 भाग, सं : श्री नगेंद्रनाथ वसु, प्रकाशक-नगेंद्रनाथ वसु और विश्वनाथ वसु, विश्वकोश लैन, बाग बाजार, कलकत्ता, प्रथम भाग–1915 पच्चीसवाँ भाग–1931
54. हिन्दू धार्मिक कथाओं का भौतिक अर्थ, त्रिवेणी प्रसाद सिंह, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1955
55. हिन्दू संस्कार, डॉ० राजबली पांडेय, चौखंबा विद्याभवन, वाराणसी-1, 1957

संस्कृत

1. अलंकार चिंतामणि, अजितसेन
2. अलंकार शेखर, केशवमिश्र, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, 1895
3. आश्वलायन गुह्य सूत्र, सं: ए० एफ० स्टेंज्लर, लिपझिग, 1864
4. उपनिषद् भाष्य (उप० भा०), चार खंड, गीताप्रेस, गोरखपुर
5. काव्य मीमांसा, राजशेखर, अनुवादक : केदारनाथ; सारस्वत बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, सं० 1991
6. कृष्णोपनिषद्
7. तैत्तरीय संहिता, माधव कृत भाष्य सहित, कलकत्ता, 1854
8. पद्म पुराण, आनंदाश्रम संस्करण, पूना
9. पारस्कर गृह्यसूत्र, सं : गोपाल शास्त्री नेने, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, बनारस
10. बौधायन गृह्यसूत्र
11. मनुस्मृति, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1946

12. महाभारत
13. रामायण
14. वामन पुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर
15. वैखानस स्मार्त सूत्र
16. सुबोधिनी टीका, लेखक : वल्लभाचार्य, भाषांतर कर्त्ता–देवर्षि रामनाथ शास्त्री, विद्या-विभाग, श्रीनाथद्वारा
17. श्रीमद्भगवद्गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर, तिरसठवाँ संस्करण, सं० 2016
18. श्रीमद्भागवत (दो खंड), गीता प्रेस, गोरखपुर, चतुर्थ संस्करण, सं० 2018
19. हिन्दी ऋग्वेद, भाषांतरकार और संपादक, पं० रामगोविंद त्रिवेदी, वेदांत शास्त्री; इन्डियन प्रेस (पब्लिकेशन्स) लिमिटेड, प्रयाग, 1954

अंग्रेजी

1. A Classical Dictionary of Hindu Mythology, J. Dowson, Truberner's oriental series.
2. A Dictionary of Symbols, J. E. Cirlot, Routiedges Kegon Paul, London.
3. Albarunez India, Vol, I, Translated by Edward Sacho, London 10.
4. Aspects of Early Visnuism, J. Gonda, N.V.A. Oostheock's intge-vsrs MiJ—utrecht. 1954.
5. Dictionary of Mythology, Folkrore and Symbols, Gertrude Jobes, the Scare Crow Press, Inc.
6. Encyclopaedia of Religions, 3 Vols., J.G.R Forlong, University Book, New Hyde Park, New York:
7. God and Divine Incarnation, Swami Ramakrishnananda.
8. Hindu Manners, Customs and Ceremonies, J. A. Dubois and Beauchamp, Clarendon Press, Oxford, Vol. II, 1897.
9. Language and Reality, Wilbur Marshall, Urban, George Allen and Unwin, London, 1951.
10. Mudra : A Study of Symbolic Gestures in Japanese Buddhist Sculpture, E Dale Saunders, Routredge & Keagon Paul Ltd. London.
11. Myths and Symbols in Indian Art and Civilization, Edited by Joseph Campbell.
12. Philosophy in a New Key ; A Study in the Symbolism of Reason, Rite and Art, Susane, K. Langer, the New American Library of World Literature, 501 Madison Avenue, New York, 22.

13. Sri Aurobindo's Vedic Glossary, compiled by A B. Purani, Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, 1962
14 Symbolical Language of Ancient Art and Mythology, Knight R P, 1876
15. Symbolism & Belief, Edwyn Bevan, George Allens Unwin Ltd, Museum Street, London, First Edition, 1938
16. Symbolism of the East and West, Mrs. Murray Aynsley, George Roadway, London, 1930.
17. The Analysis of Mind, Russel.
18. The Glorification of the Great Goddess, Vasudeva S. Agrawala
19 The Migration of Symbols and their relationi to Beliefs and Customs Donald A. Mackenzie, Kegon Paul, Trench, Trubnen & Co, London, 1926
20. The Problems of Meaning in Primitive Language, Bronisron Malinouski.
21. The Puranas in the light of Modern Science, K. Narayanaswami Aiyar, Theosophical Society, Adayar, Madras, Second Edition, 1916
22. The Swastika, Thomas Wilson
23. The Symbolist Movement in Literature, A. Symons.

पत्र-पत्रिकाएँ

1. कल्याण, अगस्त 1931
2. मानस मयूख, वर्ष 2, प्रकाश 1
3. युग प्रभात, नवंबर 1958
4. सरस्वती, वर्ष 61, खण्ड 1, संख्या 4
5. साहित्य-सदेश, जुलाई-अगस्त 1957
6. सैनिक, अक्तूबर 1951
7. Tapovan Prasad, Vol. V, No. 6 (अँग्रेजी)